हिन्दी जीवनी साहित्य

स्वरूप और विकास

(Hindi Biographical Literature: Form and Development)

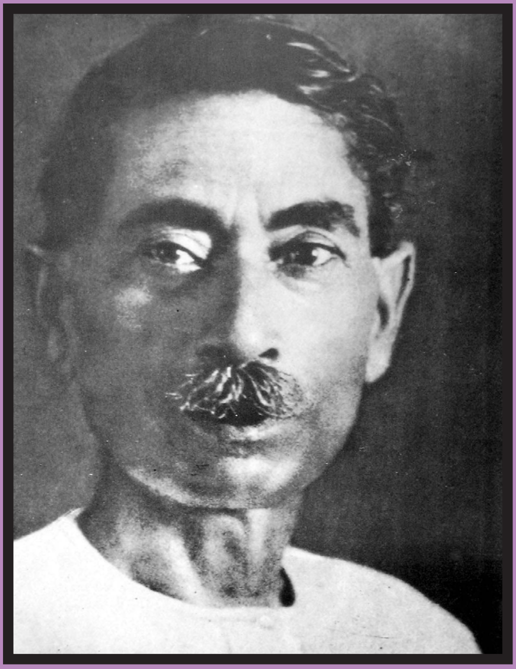

देव कुमार

हिन्दी जीवनी साहित्य

स्वरूप एवं विकास

हिन्दी जीवनी साहित्य

स्वरूप और विकास

(Hindi Biographical Literature: Form and Development)

देव कुमार

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली – 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5609-7

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

भारत में ई. पू. तीसरी शताब्दी के मौर्य सम्राट अशोक द्वारा शिलाओं पर उत्कीर्ण अभिलेख आदि भी आत्मकथा के ही रूप हैं। यह परंपरा अशोक के बाद अधिकांश भारतीय नरेशों में चल पड़ी थी। जीवन की अथवा प्रशासन की किसी विशिष्ट घटना को जीवित रखने के लिये वे उसे पत्थर के स्तंभों, मंदिरों और उनकी दीवारों, ताम्रपत्रों आदि पर अंकित करवा देते थे। कुषाण और विशेषतः गुप्त सम्राटों का काल इस तरह के संदर्भो से भरा पड़ा है। इसके साथ ही कभी-कभी जीवनी लेखन का स्पष्ट रूप भी दिखाई पड़ जाता है। बाण द्वारा रचित हर्षचरित एक ऐसा ही उदारहण है।

बाद के मुगल बादशाहों में तो आत्मकथा लिखना चाव और रुचि की बात ही हो गई थी। बाबर से लेकर जहाँगीर तक सभी ने आत्मकथाएँ लिखी हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं बाबरनामा, हुमायूंनामा, अकबरनामा, जहाँगीरनामा।

भारतीय सम्राटों, मुगल बादशाहों तथा राजपूत राजा और रजवाड़ों में आश्रय पानेवाले कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं के जीवनवृत्तांतों का विस्तृत वर्णन अपने काव्य ग्रंथों में किया है। काव्य के नायक के रूप में किसी नरेश, अथवा आश्रयदाता का चयन करने के पश्चात् उनकी जीवनी का रूपायन कविता की पंक्तियों में कर डालना एक सामान्य बात हो गई थी। इस तरह के काव्य को हिन्दी साहित्य के चरितकाव्य की संज्ञा दी गई है। ऐसे काव्यों की रचना हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल और विशेषतः रीतिकाल के बहुलता से हुई है।

वीरगाथा काल के रासों काव्यों को इसी श्रेणी में माना जा सकता है। रीतिकाल में इस तरह के चरित काव्यों के अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं, जिनकी रचना समय-समय पर कवियों द्वारा होती रही है।

नाभा दास का 'भक्तमाल' तथा उस पर प्रियादास की टीका भक्तों के जीवनचरित के संग्रह ग्रंथ हैं। कई अन्य भक्त कवियों ने भी 'भक्तमाल' नाम से जीवनचरित संग्रह ग्रंथों की रचना की। पुष्टिमार्गीय वैष्णव संतों और कवियों के ब्रजभाषा गद्य में अंकित जीवनचरित के दो संग्रह 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' अपने ढंग से बेजोड़ ग्रंथ हैं।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

—लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**जीवन**	**1**
	इतिहास	2
	भारत में जीवनचरित	3
	आधुनिक युग	4
	भारत की राष्ट्रीय संचेतना	5
	हिन्दी की राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा	8
	पंडित बाल कृष्ण भट्ट	16
	कार्यक्षेत्र	17
	प्रमुख कृतियाँ	17
	भाषा	18
	वर्ण्य विषय	18
	शैली	18
	प्रयोजनमूलक हिन्दी	20
	प्रयोजनमूलक हिन्दी का स्वरूप	20
	प्रयोजनमूलक हिन्दी के अवरोध	23
2.	**भारतेन्दु हरिश्चंद्र**	**25**
	जीवन परिचय	26

	साहित्यिक परिचय	27
3.	**राधाकृष्ण दास**	**38**
	कृतियाँ	39
	नागरीदास	39
	रचनाएँ	40
	भाषा शैली	45
	बिहारी	46
	काव्यगत विशेषताएं	50
4.	**श्यामसुन्दर दास**	**58**
	जीवनी एवं हिन्दी–सेवा	59
	साहित्य सेवा और स्थान	64
5.	**रामचन्द्र शुक्ल**	**66**
	जीवन परिचय	66
	कृतियाँ	67
	क्लिष्ट और जटिल	69
	सरल और व्यावहारिक	69
6.	**रामवृक्ष बेनीपुरी**	**73**
	परिचय	73
	रचनाएँ	74
	जयप्रकाश नारायण	76
7.	**जयशंकर प्रसाद**	**80**
	काव्य	81
8.	**प्रेमचंद**	**86**
	जीवन परिचय	87
	साहित्यिक जीवन	88
	रचनाएं	88
	प्रेमचंद के जीवन संबंधी विवाद	92
	मुंशी के विषय में विवाद	93
	विरासत	94
9.	**राममनोहर लोहिया**	**96**
	जीवनवृत्त	96

भारत छोड़ो आन्दोलन	101
गोवा मुक्ति आन्दोलन	102
स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद	102
राजनीतिक शुचिता के पक्षधर	107
10. अरुण माहेश्वरी	**110**
जीवन	110
कृतियाँ	110
11. दामोदर धर्मानंद कोसांबी	**112**
जीवन परिचय	112
शिक्षा	112
योगदान	113
भाभा से मतभेद	113
पुरुरवा-उर्वशी और कोसांबी	113
भारत में बौद्ध धर्म की क्षय	114
नालंदा के संबंध में कोसांबी के विचार	114
निधन	115

1

जीवन

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ और जीवनी-लेखक टामस कार्लाइल ने अत्यंत सीधी-सादी और संक्षिप्त परिभाषा में इसे 'एक व्यक्ति का जीवन' कहा है। इस तरह किसी व्यक्ति के जीवन वृत्तांतों को सचेत और कलात्मक ढंग से लिख डालना जीवनचरित कहा जा सकता है। यद्यपि इतिहास कुछ हद तक, कुछ लोगों की राय में, महापुरुषों का जीवनवृत्त है तथापि जीवनचरित उससे एक अर्थ में भिन्न हो जाता है। जीवनचरित में किसी एक व्यक्ति के यथार्थ जीवन के इतिहास का आलेखन होता है, अनेक व्यक्तियों के जीवन का नहीं। फिर भी जीवनचरित का लेखक इतिहासकार और कलाकार के कर्त्तव्य के कुछ समीप आए बिना नहीं रह सकता। जीवनचरितकार एक ओर तो व्यक्ति के जीवन की घटनाओं की यथार्थता इतिहासकार की भाँति स्थापित करता है, दूसरी ओर वह साहित्यकार की प्रतिभा और रागात्मकता का तथ्यनिरूपण में उपयोग करता है। उसकी यह स्थिति संभवत: उसे उपन्यासकार के निकट भी ला देती है।

जीवनचरित की सीमा का यदि विस्तार किया जाय तो उसके अंतर्गत (आत्मकथा) भी आ जायगी। यद्यपि दोनों के लेखक पारस्परिक रुचि और संबद्ध विषय की भिन्नता के कारण घटनाओं के यथार्थ आलेखन में सत्य का निर्वाह समान रूप से नहीं कर पाते। आत्मकथा के लेखक में सतर्कता के बावजूद वह आलोचनात्मक तर्क चरित्र विश्लेषण और स्पष्टचारिता नहीं आ पाती जो

जीवनचरित के लेखक की विशिष्टता होती है। इस भिन्नता के लिये किसी को दोषी नहीं माना जा सकता। ऐसा होना पूर्णतः स्वाभाविक है।

इतिहास

जीवनचरित के प्राचीनतम रूपों के उदाहरण किसी भी देश के धार्मिक, पौराणिक आख्यानों और दंतकथाओं में मिल सकते हैं जिनमें मानवीय चरित्रों, उनके मनोविकारों और मनोभावों का रूपायन हुआ हो। अधिकांशतः दैवी और मानवीय चरित्रों में जीवनचरित्र के कुछेक लक्षण मिल जाते हैं जिनका निर्माण उस काल से ही होता चला आ रहा है जब लेखनकला का विकास भी नहीं हुआ था और इस प्रयोजन के निमित्त मिट्टी और श्रीपत्रों का प्रयोग होता था।

मिस्र और पश्चिमी एशिया के देशों में पत्थरों पर, राजाओं की कब्र की रेलिंगों, स्तंभों और दीवारों की चिकनी सतह पर उनके जीवन की विजयादि से संबंधित बातें उत्कीर्ण करने की परंपरा बहुत पहले ही चल पड़ी थी। उनके जीवनकाल में भी प्रशस्तियों के रूप में इस तरह की उत्कीर्णन होते रहते थे। इस तरह की सामग्री को जीवन–चरित का प्राचीन और प्रारंभिक रूप माना जा सकता है। ऐसे जीवनवृत्तांत इतिहास की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं तथापि कभी कभी इतिहासकार को उनका उपयोग बड़ी सतर्कता से करना पड़ता है।

चीन में ई. पू. प्रथम शताब्दी के स्सु–मा चिएन ने अपने ऐतिहासिक संस्करणें के एक भाग में समकालीन विशिष्ट व्यक्तियों का जीवनचरित लिखा। बाद में चीनी सम्राट् चिएन के तत्त्वावधान में चीन की वंशावलियों का इतिहास 1747 में 214 खंडों में संगृहीत और प्रकाशित हुआ जिसमें चीन के पाँच काल्पनिक सम्राटों से लेकर स्सु–मा–चिएन के काल तक के सम्राटों का इतिवृत्तात्मक वर्णन हुआ। ज्योतिषियों, राजनीतिज्ञों, राजसभासदों, हत्यारों तक के जीवन भी उक्त ग्रंथों में लिखे गए। प्रायः उसी समय लिउहिसयांग ने विशिष्ट महिलाओं की जीवनी लिखी। उससे प्रकट है कि ईसा के पूर्व भी चीनी साहित्य में जीवनचरित का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

यूनानी जीवनीकारों में प्लूतार्क विशेष महत्व का है। उसकी कृति में यूनान, रोम और फारस के 46 विशिष्ट और यशस्वी व्यक्तियों के जीवन वृत्तांतों का वर्णन हुआ है। प्लूतार्क से भी चार शताब्दियों पूर्व एक महत्वपूर्ण जीवनी 'अनाबासिस सुकरात' के शिष्य जनोफोन ने लिखी। बाद के प्रसिद्ध यूनानी

जीवनीकारों में फ्लावियस फिलोस्त्रतस और दियोजिकी लेइर्तियस के नाम उल्लेखनीय हैं।

लातीनी साहित्य में पहली सदी ईसा पूर्व का जीवनी-लेखक कार्नेलियस नेपोस विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने कातो और उसके मित्र सिसरो के चरित लिखे। कार्नेलियस के अन्य जीवनचरित विशिष्ट सेनानायकों से संबंधित हैं।

अंग्रेजी साहित्य में 17वीं सदी के पूर्व का जीवनी साहित्य एक तरह से बहुत संक्षिप्त है। एलिजाबेथ के समकालीन विशिष्ट व्यक्तियों की, यहाँ तक कि शेक्सपीयर आदि की भी, जीवनी के अभाव में साहित्यकारों और इतिहासकारों को डिग्री में अनेक अड़चनों का सामना करना पड़ा था। बाद में उस दिशा में अनेक प्रयत्न हुए। 18वीं सदी तक आते-आते इसका काफी विकसित रूप जेम्स बासवेल द्वारा लिखित सेम्युअल जान्सन की जीवनी में देखने को मिलता है। 1791 ई. में इस जीवनी का प्रकाशन अंग्रेजी जीवनी-साहित्य में एक महत्वपूर्ण घटना है। यह ग्रंथ जीवनी-लेखकों के लिये एक निश्चित शैली और स्वरूप का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इसी तरह अमरीका, फ्रांस, स्पेन तथा यूरोपीय महाद्वीप के अन्य देशों के साहित्य में जीवनी-लेखक की जीवित परंपरा देखी जा सकती है। यह साहित्य जीवनचरित के रूप में और आत्मकथा के रूप में रचा गया है।

भारत में जीवनचरित

भारत में ई. पू. तीसरी शताब्दी के मौर्य सम्राट् अशोक द्वारा शिलाओं पर उत्कीर्ण अभिलेख आदि भी आत्मकथा के ही रूप हैं। यह परंपरा अशोक के बाद अधिकांश भारतीय नरेशों में चल पड़ी थी। जीवन की अथवा प्रशासन की किसी विशिष्ट घटना को जीवित रखने के लिये वे उसे पत्थर के स्तंभों, मंदिरों और उनकी दीवारों, ताम्रपत्रों आदि पर अंकित करवा देते थे। कुषाण और विशेषत: गुप्त सम्राटों का काल इस तरह के संदर्भों से भरा पड़ा है। इसके साथ ही कभी-कभी जीवनी लेखन का स्पष्ट रूप भी दिखाई पड़ जाता है। बाण द्वारा रचित हर्षचरित एक ऐसा ही उदारहण है।

बाद के मुगल बादशाहों में तो आत्मकथा लिखना चाव और रुचि की बात ही हो गई थी। बाबर से लेकर जहाँगीर तक सभी ने आत्मकथाएँ लिखी हैं, जो क्रमश: इस प्रकार है बाबरनामा, हुमायूनामा, अकबरनामा, जहाँगीरनामा।

भारतीय सम्राटों, मुगल बादशाहों तथा राजपूत राजा और रजवाड़ों में आश्रय पानेवाले कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं के जीवनवृत्तातों का विस्तृत वर्णन अपने काव्य ग्रंथों में किया है। काव्य के नायक के रूप में किसी नरेश, अथवा आश्रयदाता का चयन करने के पश्चात् उनकी जीवनी का रूपायन कविता की पंक्तियों में कर डालना एक सामान्य बात हो गई थी। इस तरह के काव्य को हिन्दी साहित्य के चरितकाव्य की संज्ञा दी गई है। ऐसे काव्यों की रचना हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल और विशेषत: रीतिकाल के बहुलता से हुई है। वीरगाथा काल के रासों काव्यों को इसी श्रेणी में माना जा सकता है। रीतिकाल में इस तरह के चरित काव्यों के अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं जिनकी रचना समय समय पर कवियोंद्वारा होती रही है।

नाभा दास का 'भक्तमाल' तथा उसपर प्रियादास की टीका भक्तों के जीवनचरित के संग्रह ग्रंथ हैं। कई अन्य भक्तकवियों ने भी 'भक्तमाल' नाम से जीवनचरित संग्रह ग्रंथों की रचना की। पुष्टिमार्गीय वैष्णव संतों और कवियों के ब्रजभाषा गद्य में अंकित जीवनचरित के दो संग्रह 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' अपने ढंग से बेजोड़ ग्रंथ हैं।

आधुनिक युग

आधुनिक गद्य काल में तो अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि पश्चिमी भाषाओं के साथ साथ हिंदी, बंगला, मराठी आदि में भी प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवनचरित लिखने की प्रवृत्ति यथेष्ट रूप से बढ़ती जा रही है। आत्मकथाओं में महात्मा गांधी की 'सत्य के प्रयोग' शीर्षक आत्मकथा, देशरत्न स्व. राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वनी की परिभाषा– किसी विशिष्ट व्यक्ति के जीवन वृतान्त को जीवनी कहते हैं। विशिष्ट व्यक्तित्त्व के सभी लोग नहीं होते हैं, समाज और देश के कुछ चुने हुऐ लोग ही विशिष्ट होते है। उनकी यह विथेषता उनके विशेष कार्यो पर निर्भर करती है। ऐसे ही विशिष्ट पुरूषों की जीवनी लिखी जाती है।

स्वरूप– हिन्दी में जीवनी को जीवन चरित्र भी कहते हैं। वैसे ही दोनों में कोई खास अंतर नहीं है, फिर भी विशिष्ट अर्थ में दोनों में अंतर किया जाता है। जीवनी में जीवन की अस्तूर घटनाओं का और जीवन चरित्र में नायक के आन्तरिक गुणों का समावेश किया जाता है। जीवनी में नायक के संम्पूर्ण जीवन के विशिष्ट क्रियाकलापों की विशेषता रहती है। जीवनी ना तो इतिहास है, ना

ही कल्पनिक कथा, यह किसी भी पुरूष के आर्दश कार्यो को प्रस्तुत करती है। यह उपन्यास भी नहीं है, जीवनी लिखने का मुख्य उद्देश्य होता है कि विशिष्ट मनुष्यों को व्यक्ति के रूप में देखा और परखा जाए। क्योंकि हर व्यक्ति में कुछ न कुछ अपनी विशेषता रहती है। इसी विशेषता को प्रकट करना ही जीवनी का मुख्य लक्ष्य है। प्रकार– वैसे जीवनी के अनेक भेद किये गये हैं, जैसे– आत्मीय जीवनी, लोकप्रिय जीवनी, ऐतिहासिक जीवनी, मनोवैज्ञानिक जीवनी, व्यक्तिगत जीवनी, कलात्मक जीवनी, व्यंजनात्मक जीवनी इत्यादि। ये भेद इस प्रकार जीवन के शैली गद्य भेद है। यहाँ यह अस्मरण रखना चाहिए की जीवनी में चरित्र नायक के आदर्श कार्यो और उसकी महानता का ही प्रकाथन नहीं होता, बल्कि उसके समान्य व्यक्ति के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है। ताकी वह मनुष्य की तरह सर्वभाविक और सहज प्रतीत हो, वास्तव में जीवनी में मनुष्य की समान्य और विशिष्ट दोनों प्रकार की विशिष्टताएँ होती हैं। वह ना तो देवता है, ना ही दानव, वह इन दोनों के बीच का प्राणी हैं। जो मनुष्य कहलाता है।

भारत की राष्ट्रीय संचेतना

भारतीय वांग्मय में 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही होता रहा है। यजुर्वेद के 'राष्ट्र में देहि' और अथर्वेद के 'त्वा राष्ट्र भृत्याय' में राष्ट्र शब्द समाज के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मानव की सहज सामुदायिक भावना ने समूह को जन्म दिया, जो कालान्तर में राष्ट्र के रूप में स्थापित हुआ। राष्ट्र एक समुच्चय है, कुलक है और राष्ट्रीयता एक विशिष्ट–भावना है। जिस जन समुदाय में एकता की एक सहज लहर हो, उसे राष्ट्र कहते हैं। आर्यो की भूमि आर्यावर्त में एक वाह्य एकता के ही नहीं वैचारिक एकता के भी प्रमाण मिलते हैं। आर्यो की परस्पर सहयोग तथा संस्कारित सहानुभूति की भावना राष्ट्रीय संचेतना का प्रतिफल है। साहित्य का मनुष्य से शाश्वत संबंध है। साहित्य सामुदायिक विकास में सहायक होता है और सामुदायिक भावना राष्ट्रीय चेतना का अंग है।

आधुनिक युग में भारत माता की कल्पना अथर्ववेद के सूक्तकार की देन है। वह स्वयं को धरती पुत्र मानता हुआ कहता है–''माता भूमिः पुत्रो ऽहं पृथिव्याः'' अथर्ववेद के पृथ्वी–सूक्त का प्रत्येक मंत्र राष्ट्र–भक्ति का पाठ पढ़ाता है। वेदों में राष्ट्रीयता की भावना मातृभूमि–स्तवन और महापुरुषों (देवताओं) के कीर्तिगान के द्वारा प्रकट होती है। उपनिष्दकाल के क्रान्तिकारी अमर संदेशों को भुलाया नहीं जा सकता है। यथा–'उत्तिष्ठित् जाग्रत प्राप्य

वरान्निबोधत' उठो ! जागो ! श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर (राष्ट्रप्रेम के तत्त्व को) भली-भाँति जानो!

भारतीय मनीषियों का चिन्तन सूक्ष्म और विचार उद्त्त थे। उन्होंने 'वसुधैव कुटुम्बकम' मंत्र से अंतर्राष्ट्रीयता का सूत्रपात किया था। विश्व-बंधुत्व की भावना से भारी कार्य जाति विचारों में महान थी। साथ ही शौर्य-पराक्रम और तेज से समूचे राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोकर रखने की क्षमता रखती थी।

समाज का राष्ट्र से सीधा संबंध है। किसी भी संस्कारित समाज की विशिष्ट जीवन शैली होती है। जोकि राष्ट्र के रूप में दूसरे समाज को प्रभावित करती है। रूढ़ियों एवं विकृत परम्पराओं से जर्जर समाज राष्ट्र को पतन की ओर ले जाता है। कवि मोह-निद्रा में डूबे राष्ट्र को जागृति के गान गाकर संघर्ष के लिए प्रेरित करता है। राष्ट्रीयता जैसी उदात्त प्रवृत्तियों का पोषण और उन्नयन साहित्य द्वारा होता है, किन्तु हिन्दी साहित्य के उद्भव काल में केन्द्रीय सत्ता के अभाव ने राष्ट्रीयता की जड़े हिला दीं। 'राष्ट्र' छोटे-छोटे राज्यों की सीमाओं में बँध कर रह गया। राष्ट्र का यह संकुचित स्वरूप देश की दुर्भाग्य-निशा की संध्या-बेला थी। इस युग के सम्पूर्ण काव्य में राष्ट्रीय-भावना के स्वस्थ-स्वरूप का नितान्त अभाव है।

आक्रान्ताओं के अत्याचारों से जर्जर भारतीय संस्कृति का सूर्य अस्तप्राय हो चला था। किन्तु भक्त कवियों के अंतःकरण में बहती राष्ट्रीय-चेतना धारा ने सुप्त निराश्रित समाज को नयी दिशा दी।

महात्मा कबीर ने निराकार ब्रह्म की उपासना का उच्च आदर्श प्रस्तुत कर राष्ट्रीय-गरिमा में नव-जीवन का संचार किया। राम और रहीम को एक सूत्र में पिरोने का प्रयास किया। कबीर अपने युग के महान राष्ट्रवादी थे। राष्ट्र-भक्त तुलसी ने राम के समन्वयवादी, लोकरक्षक और लोकरंजक स्वरूप को स्थापित कर सांस्कृतिक, एकता को शक्ति प्रदान की। सूर ने कर्मयोगी कृष्ण की विविध लीलाओं के माध्यम से आध्यात्मिक चेतना का संचार किया और समाज को सत्कर्म के लिए प्रेरित किया।

रीतिकाल के कवियों की चमत्कारिक वृत्ति के कारण काव्य की आत्मालुप्त हो गयी। किन्तु भूषण के राष्ट्रवादी स्वरों ने लोक चेतना को झकझोर दिया। आधुनिक काल में भारतीय हरिश्चन्द्र ने अपनी लेखनी से भारत-दुर्दशा का चित्र खींचकर समाज को जागृति प्रदान किया। छायावादी काव्य में राष्ट्रीय आन्दोलनों की स्थूल अभिव्यक्ति नहीं मिलती है। किन्तु छायावादी कवियों की

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-संचेतना को नकारा नहीं जा सकता है। उसका राष्ट्र-प्रेम भावात्मक एवं व्यापक था। उन्होंने स्वातंर्त्य-भावना को विशिष्ट-कौशल द्वारा व्यंजित किया है। भारत का पतन मानवीय मूल्यों के ह्रास का परिणाम था। गुप्तजी ने अपने काव्य द्वारा मानवीय मूल्यों की स्थापना पर बल दिया। उनकी भारत-भारती ने राष्ट्रीयता की सुप्त भावना में लहरें उठा दीं। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' रामनरेश त्रिपाठी और सोहनलाल द्विवेदी ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, 'जन'-जागरण तथा अभियान गीतों से राष्ट्र की आत्मा को नयी चेतना प्रदान की।

'दिनकर' की वैचारिक भाव-भूमि मानवतावादी है। तथापि समसामयिक परिस्थितियों में उठे विक्षोभ ने उन्हें राष्ट्रीयता वादी कवि के रूप में स्थापित कर दिया। 'दिनकर' के काव्य ने भारतीय जन-मानस को नवीन चेतना से सराबोर किया है। राष्ट्रीय-कविता का स्वरूप राष्ट्र के रूप पर ही आधारित होता है। राष्ट्रीय काव्य में समग्र राष्ट्र की चेतना प्रस्फुटित होती है। प्रत्येक भाषा के आधुनिक काव्य में राष्ट्रीय भावना का समावेश है। राष्ट्रीय-भावना राष्ट्र की प्रगति का मंत्र है। सम्पूर्ण मानवता की प्रगति का स्वरूप है। राष्ट्रीय भावना की सृजनात्मक पक्ष मानवता वादी है। जन-गण के मंगल का स्रोत है। किसी भी राष्ट्र-रूपी वृक्ष की क्षाया में अनेक पंथ-धर्म और भाषाएँ पल्लवति और पुष्पित हो सकते हैं। एक राष्ट्र में अनेक धर्म हो सकते हैं। भाषायें और बोलियाँ अनेक हो सकती हैं, किन्तु मूल भावना और सांस्कृतिक विरासत एक ही होगी। राष्ट्रीय भावना से भरे होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम दूसरे राष्ट्रों के समाज को हेय दृष्टि से देखें या दुर्भावना रखें। किसी भी राष्ट्र के समाज की भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियां उनकी जीवन-शैली का निर्माण करती हैं। बलात् अपनी सभ्यता-संस्कृति-थोपना हिंसा है और हिंसा वृत्ति कभी मानव का कल्याण नहीं कर सकती है।

भारतीय राष्ट्रीयता कोरी राजनीति कभी नहीं रही। उसने अध्यात्म, दर्शन और साहित्य के माध्यम से भी अपना नव-जागरण अभियान चलाया है। अंग्रेजों ने भारतीय समाज में जो विष-बेलें बोई थीं। वह आज भी पनप कर लह लहा रही हैं। स्वतंत्रता के इतने लंबें अंतराल में भी हम, उन बेलों का समूल नष्ट नहीं कर सके क्योंकि हमने अपना बहुमूल्य समय राष्ट्रीय चिन्तन के बजाय राजनैतिक चिन्तन में बिताया है और राष्ट्रीय चेतना को अंधेरे में घेरकर व्यक्तिगत हित साधन को सर्वोपरि समझा है। स्वाधीनता तो मिली किन्तु राष्ट्रीय चेतना सो गई।

स्वाधीनता आकाश से नहीं उतरी वरन् राष्ट्रीय-चेतना से सराबोर शहीदों की शहादत का परिणाम है।

आज जब भारतीय वैज्ञानिक शोध को नई दिशा देने में समर्थ हैं। हमारी सामर्थ्य के अनेकों आयाम विकसित हो रहे हैं। संसाधनों की कोई कमी नहीं है। भारत-भूमि में स्वर्ग उतर सकता है, किन्तु राजनीति के कुशल-दिग्भ्रान्त पहरुए राष्ट्र की जनता को वर्गों-धर्मों में बाँटकर क्षेत्रवाद की धुँध फैला रहे हैं। इसीलिए आवश्यक हो गया है कि लोक-चेतना में नया-संचार हो। प्रत्येक राष्ट्रीवादी नागरिक अस्मिता की रक्षा के लिए आगे बढ़कर आत्म-समीक्षा करे। आज राष्ट्र वाह्य और आंतरिक शत्रुओं के चक्रव्यूह में फंस कर अपना संगठित स्वरूप खोने लगा है। विघटनकारी तत्त्व अपना सिर उठा रहे हैं। साम्प्रदायिकता का विषैला प्रभाव राष्ट्रीय शिराओं में बहती जीव-धारा को विषाक्त कर रहा है। ऐसी विनाशक और विस्फोटक स्थिति में देश को दिशा देना साहित्य का गुरुत्वर दायित्व है। राष्ट्रीय काव्य-धारा ऐसी काव्य-प्रवृत्ति है जिसमें राष्ट्र-जन को तेजस्वी और पराक्रमी बनाने की सामर्थ्य निहित है।

वस्तुतः राष्ट्रीय संचेतना को झकझोरने वाला काव्यजन मानस को आन्दोलित कर नैतिक मूल्यों को स्थापित करने का साहस भरता है। उन मूल्यों को महत्त्व देने के लिए प्रेरित करता है जिनमें हिंसा, घृणा को नकारकर एक उन्मुक्त वातावरण उत्पन्न किया जा सके और जिसमें सभी धर्म निश्चिन्त होकर सांस ले सकें। यदि प्रत्येक राष्ट्र-धर्मी काव्य अपने समाज के अन्दर व्यापक उदात्त-भाव और रचनात्मक संस्कार उत्पन्न कर सकें, तो निश्चय ही ऐसा काव्य मानव के कल्याण के लिए होगा। अर्थात् राष्ट्रीय-काव्य मूलतः मानवता वादी काव्य ही है।

हिन्दी की राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को लेकर देश में व्याप्त उथल-पुथल को हिन्दी कवियों ने अपनी कविता का विषय बनाकर साहित्य के क्षेत्र में दोहरे दायित्व का निर्वहन किया। स्वदेश व स्वधर्म की रक्षा के लिए कवि व साहित्यकार एक ओर तो राष्ट्रीय भावों को काव्य के विषय के रूप में प्रतिष्ठित कर रहे थे वही दूसरी ओर राष्ट्रीय चेतना को भी हवा दे रहे थे। कवि व साहित्यकार अपनी उर्वर प्रज्ञा भूमि के कारण युगीन समस्याओं के प्रति अधिक सावधान व संवेदनशील रहता है। भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन के आरम्भ से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक

भिन्न-भिन्न चरणों में राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत कविताओं की कोख में स्वातन्त्र्य चेतना का विकास होता रहा। 'विप्लव गान' शीर्षक कविता में कवि की क्रान्तिकामना मूर्तिमान हो उठी है।

ह्रकवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर को जाये
नाश ! नाश! हाँ महानाश! ! ! की प्रलयंकारी आंख खुल जाये।
-नवीन

भारतेन्दु युग का साहित्य अंग्रेजी शासन के विरूद्ध हिन्दुस्तान की संगठित राष्ट्रभावना का प्रथम आह्वान था। यही से राष्ट्रीयता का जयनाद शुरू हुआ। जिसके फलस्वरूप द्विवेदी युग ने अपने प्रौढ़तम स्वरूप के साथ नवीन आयामों और दिशाओं की ओर प्रस्थान किया। भारतेन्दु की 'भारत दुर्दशा' प्रेमघन की आनन्द अरूणोदय, देश दशा, राधाकृष्ण दास की भारत बारहमासा के साथ राजनीतिक चेतना की धार तेज हुई। द्विवेदी युग में कविवर 'शंकर' ने शंकर सरोज, शंकर सर्वस्व, गर्भरण्डारहस्य के अर्न्तगत बलिदान गान में 'प्राणों का बलिदान देष की वेदी पर करना होगा' के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए क्रान्ति एवं आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा दी। 'बज्रनाद से व्योम जगा दे देव और कुछ लाग लगा दे' के ओजस्वी हुंकार द्वारा भारत भारतीकार मैथिलीषरण गुप्त ने स्वदेश-संगीत व सर्वश्रेष्ठ सशक्त रचना भारत-भारती में ऋषिभूमि भारतवर्ष के अतीत के गौरवगान के साथ में वर्तमान पर क्षोभ प्रकट किया है। छायावादी कवियों ने राष्ट्रीयता के रागात्मक स्वरूप को ही प्रमुखता दी और उसी की परिधि में अतीत के सुन्दर और प्रेरक देशप्रेम सम्बन्धी मधुरगीतों व कविताओं की सृष्टि की। निराला की 'वर दे वीणा वादिनी', 'भारती जय विजय करे', 'जागो फिर एकबार', 'शिवाजी का पत्र', प्रसाद की 'अरूण यह मधुमय देश हमारा' चन्द्रगुप्त नाटक में आया 'हिमाद्रि तुंगश्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' आदि कविताओं में कवियों ने ह्रदय के स्तर पर अपनी प्रशस्त राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति की है।

स्वतंत्रता आन्दोलन से प्रभावित हिन्दी कवियों की श्रृखला में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, राधाकृष्ण दास, मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, माधव प्रसाद शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, नाथूराम शर्मा शंकर, गया प्रसाद शुक्ल स्नेही (त्रिशूल), माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामधारी सिंह दिनकर, सुभद्रा कुमारी चौहान, सियाराम शरण गुप्त, सोहन लाल द्विवेदी, श्याम नारायण पाण्डेय, अज्ञेय इत्यादि कवियों

ने परम्परागत राष्ट्रीय सांस्कृतिक भित्ति पर ओजपूर्ण स्वरों में राष्ट्रीयता का संधान किया।

हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा के समस्त कवियों ने अपने काव्य में देशप्रेम व स्वतन्त्रता की उत्कट भावना की अभिव्यक्ति दी है। राष्ट्रीय काव्यधारा के प्रणेता के रूप में माखन लाल चतुर्वेदी की हिमकिरीटनी, हिमतरंगिनी, माता, युगचरण, समर्पण आदि के काव्यकृतियों के माध्यम से उनकी राष्ट्रीय भावछाया से अवगत हुआ जा सकता है। चतुर्वेदी जी ने भारत को पूर्ण स्वतन्त्र कर जनतन्त्रात्मक पद्धति की स्थापना का आह्वान किया। गुप्त जी के बाद स्वातन्त्र्य श्रृंखला की अगली कड़ी के रूप में माखन लाल चतुर्वेदी का अविस्मृत नाम न केवल राष्ट्रीय गौरव की याद दिलाता है अपितु संघर्ष की प्रबल प्रेरणा भी देता है। जेल की हथकड़ी आभूषण बन उनके जीवन को अलंकृत करती है।

'क्या? देख न सकती जंजीरो का गहना
हथकड़ियां क्यों? यह ब्रिटिश राज का गहना'
(कैदी और कोकिला)

1921 में कर्मवीर के सफल सम्पादक चतुर्वेदी जी को जब देशद्रोह के आरोप में जेल हुई तब कानपुर से निकलने वाले गणेश शंकर विद्यार्थी के पत्र 'प्रताप' और महात्मा गाँधी के 'यंग इण्डिया' ने उसका कड़ा विरोध किया। 'मुझे तोड़ लेना वन माली देना तुम उस पथ पर फेंक, मातृभूमि पर शीष चढ़ाने जिस पर जाते वीर अनेकँ "पुष्प की अभिलाषा" शीर्षक कविता की यह चिरजीवी पंक्तियाँ उस भारतीय आत्मा की पहचान कराती है जिन्होनें स्वतन्त्रता के दुर्गम पथ में यातनाओं से कभी हार नहीं मानी।

"जो कष्टों से घबराऊँ तो मुझमें कायर में भेद कहाँ
बदले में रक्त बहाऊँ तो मुझमें डायर में भेंद कहाँ!"

अनुभूति की तीव्रता की सच्चाई, सत्य, अहिंसा जैसे प्रेरक मूल्यों के प्रति कवि की आस्था, दृढ़ संकल्प, अदम्य उत्साह और उत्कट् अभिलाषा को लेकर चलने वाला यह भारत माँ का सच्चा सपूत साहित्यशास्त्र और कर्मयंत्र से दासता की बेड़ियों को काट डालने का दृढ़व्रत धारण करके जेल के सींखचों के भीतर तीर्थराज का आनन्द उठाते हैं।

'हम संक्रान्ति काल के प्राणी बदा नहीं सुख भोग
घर उजाड़ कर जेल बसाने का हमको है रोग'

नवीन

अपनी प्रथम काव्य संग्रह 'कुंकुम' की जाने पर प्राणार्पण, आत्मोत्सर्ग तथा प्रलयंकर कविता संग्रह में क्रान्ति गीतों की ओजस्विता व प्रखरता है।

'यहाँ बनी हथकड़िया राखी, साखी है संसार
यहाँ कई बहनों के भैया, बैठे है मनमार।'

राष्ट्रीय काव्यधारा को विकसित करने वाली सुभद्रा कुमारी चौहान का 'त्रिधारा' और 'मुकुल' की 'राखी' 'झाँसी की रानी' 'वीरों का कैसा हो बसंत' आदि कविताओं में तीखे भावों की पूर्ण भावना मुखरित है। उन्होंने असहयोग आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभायी। आंदोलन के दौरान उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। 'जलियावाला बाग में बसंत' कविता में इस नृशंस हत्याकाण्ड पर कवयित्री के करूण क्रन्दन से उसकी मूक वेदना मूर्तिमान हो उठी है।

"आओ प्रिय ऋतुराज, किन्तु धीरे से आना
यह है शोक स्थान, यहाँ मत शोर मचाना
कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खा कर
कलियाँ उनके लिए चढ़ाना थोड़ी सी लाकर।"

दिनकर की हुँकार, रेणुका, विपथगा में कवि ने साम्राज्यवादी सभ्यता और ब्रिटिश राज्य के प्रति अपनी प्रखर ध्वंसात्मक दृष्टि का परिचय देते हुए क्रान्ति के स्वरों का आह्वान किया है। पराधीनता के प्रति प्रबल विद्रोह के साथ इसमें पौरूष अपनी भीषणता और भयंकरता के साथ गरजा है। कुरूक्षेत्र महाकाब्य पूर्णरूपेण राष्ट्रीय है।

'उठो- उठो कुरीतियों की राह तुम रोक दो
बढो-बढो कि आग में गुलामियों को झोंक दो '।

दिनकर

स्वतन्त्रता की प्रथम शर्त कुर्बानी व समर्पण को काव्य का विषय बना क्रान्ति व ध्वंस के स्वर से मुखरित दिनकर की कवितायें नौंजवानों के शरीर में उत्साह भर उष्ण रक्त का संचार करती है।

जिसके द्वारों पर खड़ा क्रान्त, सीमापति! तूने की पुकार
पददलित उसे करना पीछे, पहले ले मेरा सीस उतार।

सोहनलाल द्विवेदी की भैरवी राणाप्रताप के प्रति, आजादी के फूलों पर जय-जय, तैयार रहो, बढ़े चलो बढ़े चलो, विप्लव गीत कवितायें, पूजा गीत

संग्रह की मातृपूजा, युग की पुकार, देश के जागरण गान कवितायें तथा वासवदत्ता, कुणाल, युगधारा काब्य संग्रहों में स्वतन्त्रता के आह्वान व देशप्रेम साधना के बीच आशा और निराशा के जो स्वर फूटे हैं उन सबके तल में प्रेम की अविरल का स्रोत बहाता कवि वन्दनी माँ को नहीं भूल सका है।

'कब तक क्रूर प्रहार सहोगे ?
कब तक अत्याचार सहोगे ?
कब तक हाहाकार सहोगे ?
उठो राष्ट्र के हे अभिमानी
सावधान मेरे सेनानी।'

सियाराम शरण गुप्त की बापू कविता में गाँधीवाद के प्रति अटूट आस्था व अहिंसा, सत्य, करूणा, विश्व-बधुत्व, शान्ति आदि मूल्यों का गहरा प्रभाव है। राजस्थानी छटा लिये श्यामनारायण पाण्डेय की कविताओं में कहीं उद्‌बोधन और क्रान्ति का स्वर तथा कहीं सत्य, अहिंसा जैसे अचूक अस्त्रों का सफल संधान हुआ है। इनकी 'हल्दीघाटी' व 'जौहर' काव्यों में हिन्दू राष्ट्रीयता का जयघोष है। देशप्रेम के पुण्य क्षेत्र पर प्राण न्यौछावर के लिए प्रेरित करने वाले रामनरेश त्रिपाठी की कविता कौमुदी, मानसी, पथिक, स्वप्न आदि काव्य संग्रह देश के उद्धार के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना उत्पन्न करते हैं। देश की स्वतन्त्रता को लक्ष्य करके श्री गया प्रसाद शुक्ल सनेही ने कर्मयोग कविता में भारतवासियों को जागृत कर साम्राज्यवादी नीति को आमूल से नष्ट करने का तीव्र आह्वाहन किया। श्रीधर पाठक ने भारतगीत में साम्राज्यवादियों के चंगुल में फंसे भारत की मुक्ति का प्रयास किया। प्रयोगवादी कवि अज्ञेय भी अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़कर आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाते हुए कई बार जेल गये। जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द की कवितायें भी इस दिशा में सक्रिय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता आंदोलन के उत्तरोत्तर विकास के साथ हिन्दी कविता और कवियों के राष्ट्रीय रिश्ते मजबूत हुए। राजनीतिक घटनाक्रम में कवियों के तेवर बदलते रहे और कविता की धार भी तेज होती गई। आंदोलन के प्रारम्भ से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक हिन्दी काव्य संघर्षो से जूझता रहा। स्वाधीनता के पश्चात राष्ट्रीय कविता के इतिहास का एक नया युग प्रारम्भ हुआ। नये निर्माण के स्वर और भविष्य के प्रति मंगलमय कल्पना उनके काव्य का विषय बन गया। फिर भी स्वतन्त्रता यज्ञ में उनके इस अवदान और बलिदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। भारत का ऐतिहासिक क्षितिज उनकी

कीर्ति किरण से सदा आलोकित रहेगा और उनकी कविताएँ राष्ट्रीय आस्मिता की धरोहर बनकर नयी पीढ़ी को अपने गौरव गीत के ओजस्वी स्वर सुनाती रहेगीं।

साहित्यकार जैनेन्द्र

साहित्य की प्रचलित धाराओं के बरअक्स अपनी एक जुदा राह बनाने वाले जैनेन्द्र को गांधी दर्शन के प्रवक्ता, लेखक के रूप में याद किया जाता है। गांधीवादी चिंतक, मनोवैज्ञानिक कथा साहित्य के सूत्रधार, साहित्यकार जैनेन्द्र को उनके विशिष्ट दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक साहित्य के लिये भी जाना जाता है। हिन्दू रहस्यवाद, जैन दर्शन से प्रभावित जैनेन्द्र का सम्पूर्ण साहित्य सृजन प्रक्रिया की विलक्षणता और सुनियोजित संश्लिष्टता का अनन्यतम उदाहरण है। जैनेन्द्र के बारे में अज्ञेय ने कहा था आज के हिन्दी के आख्यानकारों और विशेषतया कहानीकारों में सबसे अधिक टेक्निकल जैनेन्द्र हैं। टेक्नीक उनकी प्रत्येक कहानी की और सभी उपन्यासों की आधारशिला है। स्त्री विमर्श के प्रबल हिमायती जैनेन्द्र ने कहानी के अंदर प्रेम को संभव किया।

1905 में अलीगढ के कौडियागंज गांव में जन्मे आनंदी लाल ने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि वे आगे चलकर साहित्यकार जैनेन्द्र कुमार बनेंगे। चार माह की उम्र में ही उनके सिर से पिता का साया उठ गया। मां और मामा भगवानदीन ने उन्हें पाला पोसा। बहरहाल बचपन अभावग्रस्त, संघर्षमय बीता और युवावस्था तक आते-आते नौकरी जिंदगी का अहम् मकसद बन गयी। दोस्त के बुलावे पर नौकरी के लिए कलकत्ता पहुँचे मगर वहाँ भी निराशा ही हाथ लगी।

जैनेन्द्र लेखक कैसे बने इसकी दास्तान भी कम दिलचस्प नहीं है। गर्दिश के दिनों में अपने दोस्त के यहाँ बैठे थे। दोस्त की बीवी को लिखने का शौक था और वह यदाकदा पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती थीं। जैनेन्द्र से लिखने पर बहस हुई तो जैनेन्द्र लिखने की ठान बैठे। खेल कहानी लिखी और विशाल भारत में छपने के लिए भेज दीं। कहानी छपी और चार रुपये मनीआर्डर बतौर पारिश्रमिक जैनेन्द्र के पास आए।

कहानी खेल से उनके लेखन का सिलसिला जो प्रारंभ हुआ तो 24 साल की उम्र तक उपन्यास परख आ गया। परख को साहित्य अकादमी का पांच सौ रुपये का पुरस्कार मिला। बहरहाल इसके बाद उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। जिंदगी की यही घटनाएं वजहें थीं कि जैनेन्द्र नियतिवादी, ईश्वरवादी हो गए। ईश्वर पर उनका भरोसा बढ़ता चला गया।

असहयोग आन्दोलन के दौरान पढ़ाई छोड़ आन्दोलन में हिस्सा लेने वाले जैनेन्द्र की जिंदगी और साहित्य पर महात्मा गांधी का जबर्दस्त प्रभाव था। जैनेन्द्र खुद कहते हैं– गांधी जीवन मेरे समक्ष सत्य शोध का उत्तम उदाहरण रहा/अध्यात्म, दर्शन, नैतिकता और अपने साहित्य द्वारा सत्य की खोज जैनेन्द्र के विपुल साहित्य के विचार बिन्दु हैं। उनका पूरा रचना संसार इन्हीं विचार बिन्दुओं के इर्द-गिर्द घूमता है। उपन्यास- सुनीता, त्यागपत्र, सुखदा, विवर्त, कल्याणी कहानियां नीलम देश की राजकन्या, जान्हवी, अविज्ञान, पत्नी, ध्रुवतारा आदि रचनाएं इन्हीं विचारों में रची बसी नजर आती हैं। नतीजतन उन पर कई तरह के इल्जाम भी लगे जिनमें प्रमुख हैं- जैनेन्द्र का दर्शन समाज व जीवन से पलायन का दर्शन, उनके उपन्यास प्रहेलिका मात्र हैं, वे यथार्थ से भागते हैं, जैनेन्द्र दार्शनिकता का पोज भर भरते हैं और नारी पात्रों को अनैतिकता में धकेलने के लिए हमेशा आध्यात्मिकता का सहारा लेते हैं आदि। अपने समय में साहित्यिक जगत की कटु आलोचनाओं को सहने वाले जैनेन्द्र ने कई बार तंग आकर सक्रिय साहित्य से संन्यास भी लिया। उपन्यास कल्याणी के बाद तो उन्होंने 14 साल एकांतवास लिया। मगर उनकी वापसी हर बार उतने ही जोरदार तरीके से हुई। उस दौर की चर्चित पत्रिकाएं धर्मयुग तथा साप्ताहिक हिन्दुस्तान ने उनके उपन्यास- सुखदा और विवर्त को किश्तवार छापा। वहीं माया ने दस कहानियों के लिए उन्हें 2 हजार अग्रिम राशि देकर अनुबंधित किया जो उस समय लेखकों को मिलने वाली अधिकतम मानदेय 60 रुपये से कहीं ज्यादा था। जितना जैनेन्द्र से जुड़ा यह किस्सा जतलाता है कि वे कामयाबी के किस शिखर पर विराजमान थे।

ख्याति और विवादों का चोली-दामन का साथ है। जैनेन्द्र भी इन सबसे अछूते नहीं रहे। उपन्यास, कहानी के अलावा आपके वैचारिक निबंध, आलेख पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते थे जो खासे चर्चित थे। धर्मयुग में छपने वाले कॉलम इतस्तत: में वे नियमित लिखते थे। अपने कॉलम के जरिए उन्होंने सामाजिक मान्यताओं तथा रूढ़ परम्पराओं पर लगातार प्रहार किए। चुनांचे धर्मयुग के संपादक ने उनके कॉलम को एक बार बीच में से ही स्थगित करते हुए कहा था। इतस्तत: के कुछ खण्डों में आपने इतने विद्रोही (सामाजिक मान्यताओं) भावों का प्रतिपादन कर दिया है कि मान्यताओं के प्रति श्रद्धालु व्यक्तियों के मन में धर्मयुग के लिए तीव्र घृणा जाग गई है। धर्मयुग के पाठकों में से अधिकांश व्यक्ति परम्परा प्रेमी हैं उन्हें आपकी सर्वथा मौलिक परम्पराएं अच्छी नहीं लगीं।

अत: यही है कि इतस्तत: को कुछ काल के लिए स्थगित कर दें। इन कॉलमों में जो भी जाएगा हमारे पारम्परिक पाठकों की संशयात्मक दृष्टि का शिकार हो जाएगा।

समय और हम, साहित्य का श्रेय और प्रेय, प्रश्न और प्रश्न, सोच-विचार, राष्ट्र और राज्य, काम प्रेम और परिवार, अकाल पुरुष गांधी आदि निबंध जैनेन्द्र की दार्शनिकता और नितांत मौलिक पदस्थापनाओं के कारण जाने पहचाने गए। अपने अधिकांश साहित्य का लेखन डिक्टेशन से कराने वाले जैनेन्द्र के लेखन पर महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का अत्यधिक प्रभाव था। जिसके प्रत्यक्ष उदाहरण उनके उपन्यास सुनीता और सुखदा हैं, जो टैगोर के उपन्यास- घरे बाहरे से प्रेरित हैं। परख और सुनीता को पढ़ उपन्यासकार मुंशी प्रेमचन्द ने एक बार कहा था जैनेन्द्र में गोर्की और शरतचन्द्र चटर्जी दोनों एक साथ देखने को मिलते हैं। बहरहाल बांग्ला साहित्यकार शरतचन्द्र के उपन्यासों की ही तरह उनके तकरीबन सभी उपन्यासों में स्त्री चरित्र पूरी दृढता के साथ नजर आते हैं। त्याग-पत्र की मृणाल और सुनीता का केन्द्रीय चरित्र सुनीता उपन्यास में अपनी मौजूदगी का अहसास प्रखरता से कराता है। हालांकि उनके स्त्री चरित्र आत्मा की ट्रेजेडी और आत्म प्रपीढन से ग्रसित नजर आते हैं।

दरअसल जैनेन्द्र ने मानवीय दुनिया की अपेक्षा आत्मिक दुनिया पर ज्यादा लिखा। वे यथार्थ की जगह विचारों की बात ज्यादा करते हैं, जो उन्हें रूसी साहित्यकार दास्तोएव्सकी के नजदीक रखता है। एक दौर वह था जब उपन्यास, कहानियों में यशपाल और जैनेन्द्र द्वारा नारी के बोल्ड चित्रण से उनकी साड़ी-जम्पर उतारवाद का प्रवर्तक भी कहा गया तथा उन पर साहित्य में नैतिकता की गिरावट और अश्लीलता के आरोप मढे गए, अपने ऊपर लगे इन आरोपों का जवाब जैनेन्द्र ने अपने निबंधों के जरिए ही दिया। अश्लीलता यदि है तो वस्तु में नहीं व्यक्ति में है, असल में नैतिकता की दुहाई देने वाले लोग वे ही हैं, जो सुविधा प्राप्त हैं, वे अपने भोग और आराम को बचाये रखने के लिए नीतिवादिता से अपनी रक्षा में चारों ओर घेरा डालते हैं। अंग्रेजी में एक शब्द है कंजरवेटिव नैतिकता की दुहाई ऐसे ही लोग देते हैं।

बहरहाल अश्लीलता-नैतिकता के यह सवाल आज भी उसी तरह विद्यमान हैं जिनके जवाब हमें जैनेन्द्र की नुक्ता-ए-नजर में देखने को मिलते हैं। अपनी जिंदगी में उच्च आदर्शो को ओढ़ने वाले सादगी-करूणा की प्रतिमूर्ति जैनेन्द्र सही

मायने में सत्यान्वेषी थे जिनके लिए अपनी आत्मा की आवाज सर्वोपरि थी और जिसका पालन उन्होंने मरते दम तक किया।

पंडित बाल कृष्ण भट्ट

"साहित्य जनसमूह के हदय का विकास है" यह शीर्षक है उस निबन्ध काय जिसे हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माताओं में से एक पंडित बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है। यह निबन्ध हमारे पाठ्यक्रम से संबन्धित है। यहां संक्षिप्त में पंडित बालकृष्ण भट्ट का जीवन परिचय दिया जा रहा हैं।

पंडित बाल कृष्ण भट्ट भारतेन्दु युग के हिन्दी के सफल पत्रकार, नाटककार और प्रतिष्ठित निबंधकार थे। भारतेंदु काल के निबंध-लेखकों में भट्ट जी का सर्वोच्च स्थान है। उन्हें आज की गद्य प्रधान कविता का जनक माना जा सकता है। हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माताओं में भी उनका प्रमुख स्थान है।

पंडित बाल कृष्ण भट्ट का जन्म 3 जून 1844 को प्रयाग के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम पं. वेणी प्रसाद था। स्कूल में दसवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद भट्ट जी ने घर पर ही संस्कृत का अध्ययन किया। संस्कृत के अतिरिक्त उन्हें हिंदी अंग्रेजी, उर्दू, फारसी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान हो गया। भट्ट जी स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने व्यापार का कार्य किया तथा वे कुछ समय तक कायस्थ पाठशाला प्रयाग में संस्कृत के अध्यापक भी रहे किंतु उनका मन किसी में नहीं रमा। भारतेंदु जी से प्रभावित होकर उन्होंने हिंदी-साहित्य सेवा का व्रत ले लिया। भट्ट जी ने हिंदी-प्रदीप नामक मासिक पत्र निकाला। इस पत्र के वे स्वयं संपादक थे। उन्होंने इस रस पत्र के द्वारा निरंतर 32 वर्ष तक हिंदी की सेवा की। काव्य, नाटक प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित हिंदी शब्द सागर के संपादन में भी उन्होंने बाबू श्याम सुंदर दास तथा शुक्ल जी के साथ कार्य किया।

भट्ट जी की माता अपने पति की अपेक्षा अधिक पढ़ी-लिखी और विदुषी थीं। उनका प्रभाव बालकृष्ण भट्ट जी पर अधिक पड़ा। भट्ट जी मिशन स्कूल में पढ़ते थे। वहाँ के प्रधानाचार्य एक ईसाई पादरी थे। उनसे वाद-विवाद हो जाने के कारण इन्होंने मिशन स्कूल जाना बंद कर दिया। इस प्रकार वह घर पर रह कर ही संस्कृत का अध्ययन करने लगे। वे अपने सिद्धान्तों एवं जीवन-मूल्यों के इतने दृढ़ प्रतिपादक थे कि कालान्तर में इन्हें अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण मिशन स्कूल तथा कायस्थ पाठशाला के संस्कृत अध्यापक के पद से त्याग-पत्र

देना पड़ा था। जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने कुछ समय तक व्यापार भी किया परन्तु उसमें इनकी अधिक रुचि न होने के कारण सफलता नहीं मिल सकी। आपकी अभिरुचि आरंभ से ही साहित्य सेवा में थी। अतः सेवा-वृत्ति को तिलांजलि देकर वे यावज्जीवन हिन्दी साहित्य की सेवा ही करते रहे। भट्टजी का 20 जुलाई 1914 देहवसान हो गया।

कार्यक्षेत्र

भट्ट जी एक अच्छे और सफल पत्रकार भी थे। हिन्दी प्रचार के लिए उन्होंने संवत् 1933 में प्रयाग में हिन्दी वर्द्धिनी नामक सभा की स्थापना की। उसकी ओर से एक हिन्दी मासिक पत्र का प्रकाशन भी किया, जिसका नाम था "हिन्दी प्रदीप"। वह बत्तीस वर्ष तक इसके संपादक रहे और इसे नियमित रूप से भली-भाँति चलाते रहे। हिन्दी प्रदीप के अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट जी ने दो-तीन अन्य पत्रिकाओं का संपादन भी किया। भट्ट जी भारतेन्दु युग के प्रतिष्ठित निबंधकार थे। अपने निबंधों द्वारा हिन्दी की सेवा करने के लिए उनका नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा। उनके निबंध अधिकतर हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित होते थे। उनके निबंध सदा मौलिक और भावना पूर्ण होते थे। वह इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें पुस्तकें लिखने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था। अत्यन्त व्यस्त समय होते हुए भी उन्होंने "सौ अजान एक सुजान", "रेल का विकट खेल", "नूतन ब्रह्मचारी", "बाल विवाह" तथा "भाग्य की परख" आदि छोटी-मोटी दस-बारह पुस्तकें लिखीं। वैसे आपने निबंधों के अतिरिक्त कुछ नाटक, कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं।

प्रमुख कृतियाँ

भट्ट जी ने हिंदी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में लिखा। उन्हें मूलरूप से निबंध लेखक के रूप में जाना जाता है, लेकिन उन्होंने दो उपन्यास भी लिखे।

निबंध- संग्रह साहित्य सुमन और भट्ट निबंधावली।

उपन्यास- नूतन ब्रह्मचारी तथा सौ अजान एक सुजान।

मौलिक नाटक- दमयंती, स्वयंवर, बाल-विवाह, चंद्रसेन, रेल का विकट खेल, आदि।

अनुवाद- भट्ट जी ने बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के अनुवाद भी किए जिनमें वेणीसंहार, मृच्छकटिक, पद्मावती आदि प्रमुख हैं।

भाषा

भाषा की दृष्टि से अपने समय के लेखकों में भट्ट जी का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपनी रचनाओं में यथाशक्ति शुद्ध हिंदी का प्रयोग किया। भावों के अनुकूल शब्दों का चुनाव करने में भट्ट जी बड़े कुशल थे। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने सुंदर ढंग से किया है। भट्ट जी की भाषा में जहाँ तहाँ पूर्वीपन की झलक मिलती है। जैसे- समझा-बुझा के स्थान पर समझाय-बुझाय लिखा गया है। बालकृष्ण भट्ट की भाषा को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की भाषा तत्सम शब्दों से युक्त है। द्वितीय कोटि में आने वाली भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ तत्कालीन उर्दू, अरबी, फारसी तथा ऑंग्ल भाषीय शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। वह हिन्दी की परिधि का विस्तार करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भाषा को विषय एवं प्रसंग के अनुसार प्रचलित हिन्दीतर शब्दों से भी समन्वित किया है। आपकी भाषा जीवंत तथा चित्ताकर्षक है। इसमें यत्र-तत्र पूर्वी बोली के प्रयोगों के साथ-साथ मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, जिससे भाषा अत्यन्त रोचक और प्रवाहमयी बन गई है।

वर्ण्य विषय

भट्ट जी ने जहाँ आँख, कान, नाक, बातचीत जैसे साधारण विषयों पर लेख लिखे हैं, वहाँ आत्मनिर्भरता, चारु चरित्र जैसे गंभीर विषयों पर भी लेखनी चलाई है। साहित्यिक और सामाजिक विषय भी भट्ट जी से अछूते नहीं बचे। 'चंद्रोदय' उनके साहित्यिक निबंधों में से है। समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए उन्होंने सामाजिक निबंधों की रचना की। भट्ट जी के निबंधों में सुरुचि-संपन्नता, कल्पना, बहुवर्णन शीलता के साथ-साथ हास्य व्यंग्य के भी दर्शन होते हैं।

शैली

भट्ट जी की लेखन-शैली को भी दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की शैली को परिचयात्मक शैली कहा जा सकता है। इस शैली में उन्होंने कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। द्वितीय कोटि में आने वाली शैली गूढ़ और गंभीर है। इस शैली में भट्ट जी को अधिक नैपुण्य प्राप्त है। आपने "आत्म-निर्भरता" तथा "कल्पना" जैसे गम्भीर विषयों के अतिरिक्त, "आँख", "नाक", तथा "कान", आदि अति सामान्य विषयों पर भी सुन्दर निबंध लिखे

हैं। आपके निबंधों में विचारों की गहनता, विषय की विस्तृत विवेचना, गम्भीर चिन्तन के साथ एक अनूठापन भी है। यत्र-तत्र व्यंग्य एवं विनोद उनकी शैली को मनोरंजक बना देता है। उन्होंने हास्य आधारित लेख भी लिखे हैं, जो अत्यन्त शिक्षादायक हैं। भट्ट जी का गद्य गद्य न होकर गद्यकाव्य सा प्रतीत होता है। वस्तुतः आधुनिक कविता में पद्यात्मक शैली में गद्य लिखने की परंपरा का सूत्रपात श्री बालकृष्ण भट्ट जी ने ही किया था।

1. वर्णनात्मक शैली- वर्णनात्मक शैली में भट्ट जी ने व्यावहारिक तथा सामाजिक विषयों पर निबंध लिखे हैं। जन साधारण के लिए भट्ट जी ने इसी शैली को अपनाया। उनके उपन्यास की शैली भी यही है, किंतु इसे उनकी प्रतिनिधि शैली नहीं कहा जा सकता।

इस शैली की भाषा सरल और मुहावरेदार है। वाक्य कहीं छोटे और कहीं बड़े हैं।

2. विचारात्मक शैली- भट्ट जी द्वारा गंभीर विषयों पर लिखे गए निबंध इसी शैली के अंतर्गत आते हैं। तर्क और विश्वास, ज्ञान और भक्ति, संभाषण आदि निबंध विचारात्मक शैली के उदाहरण हैं।

इस शैली की भाषा में संस्कृत के शब्दों की अधिकता है।

3. भावात्मक शैली- इस शैली का प्रयोग भट्ट जी ने साहित्यिक निबंधों में किया है। इसे भट्ट जी की प्रतिनिधि शैली कहा जा सकता है।

इस शैली में शुद्ध हिंदी का प्रयोग हुआ है। भाषा प्रवाहमयी, संयत और भावानुकूल है। इस शैली में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में विशेष सौंदर्य आ गया है। भावों और विचार के साथ कल्पना का भी सुंदर समन्वय हुआ। इसमें गद्य काव्य जैसा आनंद होता है। चंद्रोदय निबंध का एक अंश देखिए- यह गोल-गोल प्रकाश का पिंड देख भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन में उदय होती है कि क्या यह निशा अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है, यह रजनी रमणी के ललाट पर दुक्के का सफेद तिलक है।

4. व्यंग्यात्मक शैली- इस शैली में हास्य और व्यंग्य की प्रधानता है। विषय के अनुसार कहीं व्यंग्य अत्यंत मार्मिक और तीखा हो गया है।

इस शैली की भाषा में उर्दू शब्दों की अधिकता है और वाक्य छोटे-छोटे हैं।

साहित्य सेवा और स्थान– भारतेंदु काल के निबंध–लेखकों में भट्ट जी का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने पत्र, नाटक, काव्य, निबंध, लेखक, उपन्यासकार अनुवादक विभिन्न रूपों में हिंदी की सेवा की और उसे धनी बनाया।

साहित्य की दृष्टि से भट्ट जी के निबंध अत्यंत उच्चकोटि के हैं। इस दिशा में उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैंब से की जा सकती है। गद्य काव्य की रचना भी सर्वप्रथम भट्ट जी ने ही प्रारंभ की। इनसे पूर्व हिंदी में गद्य काव्य का नितांत अभाव था।

प्रयोजनमूलक हिन्दी

प्रयोजनमूलक हिन्दी के संदर्र्भ में 'प्रयोजन' शब्द के साथ 'मूलक' उपसर्ग लगने से प्रयोजनमूलक पद बना है। प्रयोजन से तात्पर्य है उद्देश्य अथवा प्रयुक्ति। 'मूलक' से तात्पर्य है आधारित। अतः प्रयोजनमूलक भाषा से तात्पर्य हुआ किसी विशिष्ट उद्देश्य के अनुसार प्रयुक्त भाषा। इस तरह प्रयोजनमूलक हिन्दी से तात्पर्य हिन्दी का वह प्रयुक्तिपरक विशिष्ट रूप या शैली है, जो विषयगत तथा संदर्भगत प्रयोजन के लिए विशिष्ट भाषिक संरचना द्वारा प्रयुक्त की जाती है। विकास के प्रारम्भिक चरण में भाषा सामाजिक सम्पर्क का कार्य करती है। भाषा के इस रूप को संपर्क भाषा कहते हैं। संपर्क भाषा बहते नीर के समान है। प्रौढ़ा की अवस्था में भाषा के वैचारिक संदर्भ परिपुष्ट होते हैं और भावात्मक अभिव्यक्ति कलात्मक हो जाती है। भाषा के इन रूपों को दो नामों से अभिहित किया जाता है– प्रयोजनमूलक और आनन्दमूलक। आनन्द विधायक भाषा साहित्यिक भाषा है। साहित्येतर मानक भाषा को ही प्रयोजनमूलक भाषा कहते हैं, जो विशेष भाषा समुदाय के समस्त जीवन–संदर्भों को निश्चित शब्दों और वाक्य संरचना के द्वारा अभिव्यक्त करने में सक्षम हो। भाषिक उपादेयता एवं विशिष्टिता का प्रतिपादन प्रयोजनमूलक भाषा से होता है।

प्रयोजनमूलक हिन्दी का स्वरूप

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। इसके बोलने व समझने वालों की संख्या के अनुसार विश्व में यह तीसरे क्रम की भाषा है। यानी कि हिन्दी अंतर्राष्ट्रीय भाषा है। अतः स्वाभाविक ही है कि विश्व की चुनिंदा भाषाओं में से एक महत्वपूर्ण भाषा और भारत की अभिज्ञात राष्ट्रभाषा होने के कारण, देश के

प्रशासनिक कार्यों में हिन्दी का व्यापक प्रयोग हो, राष्ट्रीयता की दृष्टि से ये आसार उपकारक ही है।

प्रयोजनमूलक हिन्दी हिन्दी के भाषिक अध्ययन का ही एक और नाम है, एक और रूप है। एक समय था जबकि सरकारी-अर्द्धसरकारी या सामान्यतः कार्यालयी पत्राचार के लिए अंग्रेजी एकमात्र सक्षम भाषा समझी जाती थी। अंग्रेजी की उक्त महानता आज, सत्य से टूटी चेतना की तरह बेकार सिद्ध हो रही है चूंकि हिन्दी में अत्यन्त बढ़िया, स्तरीय तथा प्रभावक्षम पत्राचार संभव हुआ है। अतः जो लोग हिन्दी को अविकसित भाषा कहते थे, कभी खिचड़ी तो कभी क्लिष्ट भाषा कहते थे या अंग्रेजी की तुलना में हिन्दी को नीचा दिखाने की मूर्खता करते थे, उन्हें तक लगने लगा है कि हिन्दी वाकई संसार की एक महान भाषा है, हरेक दृष्टि से परिपूर्ण एक सम्पन्न भाषा है।

राजभाषा के अतिरिक्त अन्य नये-नये व्यवहार क्षेत्रों में हिन्दी का प्रचार तथा प्रसार होता है, जैसे रेलवे प्लेटफार्म, मंदिर, धार्मिक संस्थानों आदि में। जीवन के कई प्रतिष्ठित क्षेत्रों में भी अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग किया जाता है। विज्ञान और तकनीकी शिक्षा, कानून और न्यायालय, उच्चस्तरीय वाणिज्य और व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में हिन्दी का व्यापक प्रयोग होता है। व्यापारियों और व्यावसायियों के लिए भी हिन्दी का प्रयोग सुविधाजनक और आवश्यक बन गया है। भारतीय व्यापारी आज हिन्दी की उपेक्षा नहीं कर सकते, उनके कर्मचारी, ग्राहक सभी हिन्दी बोलते हैं। व्यवहार के अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग प्रयोजनों से हिन्दी का प्रयोग किया जाता है। बैंक में हिन्दी के प्रयोग का प्रयोजन अलग है तो सरकारी कार्यालयो में हिन्दी के प्रयोग का प्रयोजन अलग है। हिन्दी के इस स्वरूप को ही प्रयोजनमूलक हिन्दी कहते हैं।

प्रयोजनमूलक रूप के कारण हिन्दी भाषा जीवित रही। आज तक साहित्यिक हिन्दी का ही अध्ययन किया जाता था, लेकिन साहित्यिक भाषा किसी भी भाषा को स्थित्यात्मक बनाती है और प्रयोजनमूलक भाषा उसको गत्यात्मक बनाती है। गतिमान जीवन में गत्यात्मक भाषा ही जीवित रहती है, प्रचलित रहती है। आज साहित्य तो संस्कृत में भी है, लेकिन उसका गत्यात्मक रूप-प्रयोजनमूलक रूप समाप्त हो गया है, अतः वह मृतवत हो गयी है। हिन्दी का प्रयोजनमूलक रूप अधिक शक्तिशाली तथा गत्यात्मक है। हिन्दी का प्रयोजनमूलक रूप न केवल उसके विकास में सहयोग देगा, बल्कि उसको जीवित रखने एवं लोकप्रिय बनाने में भी महत्वपूर्ण योगदान देगा।

इस प्रकार विभिन्न प्रयोजनों के लिए गठित समाज खंडों द्वारा किसी भाषा के ये विभिन्न रूप या परिवर्तन ही उस भाषा के प्रयोजनमूलक रूप हैं। अंग्रेजी शासन में यूरोपीय संपर्क से हमारा सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक ढांचा काफी बदला, धीरे-धीरे हमारे जीवन में नई उद्भावनाएं (जैसे पत्रकारिता, इंजीनियरिंग, बैंकीय) पनपी और तदनुकूल हिन्दी के नए प्रयोजनमूलक भाषिक रूप भी उभरे। स्वतंत्रता के बाद तो हिन्दी भाषा का प्रयोग क्षेत्र बहुत बढ़ा है और तद्नुरूप उसके प्रयोजनमूलक रूप भी बढ़े हैं और बढ़ते जा रहे हैं। साहित्यिक विधाओं, संगीत, कपड़ा-बाजार, सट्टाबाजारों, चिकित्सा, व्यवसाय, खेतों, खलिहानों, विभिन्न शिल्पों और कलाओं, कला व खेलों के अखाड़ों, कोर्टो कचहरियों आदि में प्रयुक्त हिन्दी पूर्णतः एक नहीं है। रूप-रचना, वाक्य रचना, मुहावरों आदि की दृष्टि से उनमें कभी थोड़ा कभी अधिक अंतर स्पष्ट है और ये सभी हिन्दी के प्रयोजनमूलक परिवर्त या उपरूप है।

प्रयोजनमूलक हिन्दी की विशेषताएं–

प्रयोजनमूलक भाषा की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. वैज्ञानिकता–प्रयोजनमूलक शब्द पारिभाषिक होते हैं। किसी वस्तु के कार्य-कारण संबंध के आधार पर उनका नामकरण होता है, जो शब्द से ही प्रतिध्वनित होता है। ये शब्द वैज्ञानिक तत्त्वों की भांति सार्वभौमिक होते हैं। हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

2. अनुप्रयुक्तता–उपसर्गो, प्रत्ययों और सामासिक शब्दों की बहुलता के कारण हिन्दी की प्रयोजनमूलक शब्दावली स्वतः अर्थ स्पष्ट करने में समर्थ है। इसलिए हिन्दी की शब्दावली का अनुप्रयोग सहज है।

3. वाच्यार्थ प्रधानता–हिन्दी के पर्याय शब्दों की संख्या अधिक है। अतः ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में उसके अर्थ को स्पष्ट करने वाले भिन्न पर्याय चुनकर नए शब्दों का निर्माण संभव है। इससे वाचिक शब्द ठीक वही अर्थ प्रस्तुत कर देता है। अतः हिन्दी का वाच्यार्थ भ्रांति नहीं उत्पन्न करता।

4. सरलता और स्पष्टता–हिन्दी की प्रयोजनमूलक शब्दावली सरल और एकार्थक है, जो प्रयोजनमूलक भाषा का मुख्य गुण है। प्रयोजनमूलक भाषा में अनेकार्थकता दोष है। हिन्दी शब्दावली इस दोष से मुक्त है।

इस तरह प्रयोजनमूलक भाषा के रूप में हिन्दी एक समर्थ भाषा है। स्वतंत्रता के पश्चात प्रयोजनमूलक भाषा के रूप में स्वीकृत होने के बाद हिन्दी

में न केवल तकनीकी शब्दावली का विकास हुआ है, वरन विभिन्न भाषाओं के शब्दों को अपनी प्रकृति के अनुरुप ढाल लिया है। आज प्रयोजनमूलक क्षेत्र में नवीनतम उपलब्धि इंटरनेट तक की शब्दावली हिन्दी में उपलब्ध है, और निरंतर नए प्रयोग हो रह हैं।

प्रयोजनमूलक हिन्दी के अवरोध

ब्रिटिश शासकों ने अपने उपनिवेशों में एक महत्वपूर्ण कार्य किया था, अंग्रेजी को प्रतिष्ठित करने का। उन्होंने जिस अंग्रेजी को आरोपित किया, उसका उद्देश्य अपने शासन के लिए योग्य कर्मचारियों को तैयार करना था। जनता से संपर्क के लिए वे हिन्दी सीखते थे और शासन के लिए भारतीय भाषाओं को हेय बताकर अंग्रेजी के एक व्यावहारिक रूप का प्रचार कर रहे थे। इसके लिए उन्होंने जीवन-यापन से जुड़े क्षेत्रों में अंग्रेजी को अनिवार्य कर दिया। 15 अगस्त 1947 को भारत को स्वतंत्रता मिली। राष्ट्रीयता की प्रबल भावना के कारण स्वदेश और स्वभाषा का समर्थन सभी राष्ट्र नेताओ ने किया। संविधान निर्माताओं ने बिना किसी संशय के हिन्दी को राजभाषा घोषित कर दिया। राजभाषा के साथ ही प्रयोजनमूलक भाषा का विकास प्रारंभ होता है। शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त भाषा का संबंध समस्त सामाजिक प्रयोजनों से जुड़ जाता है। अत: 26 जनवरी 1950 से ही प्रयोजनमूलक हिन्दी की निर्माण प्रक्रिया प्रारंभ हुई और समस्त सरकारी और गैर सरकारी संगठनों, शिक्षालयों, संचार माध्यमों, उद्योगों और तकनीकी संस्थानों का उद्देश्य अपनी भाषा के माध्यम से कार्य करना था।

अंग्रेजी शासकों के इन कृत्यों ने ही कालान्तर में शब्दावली का रोना रोकर 15 वर्षो तक हिन्दी के विकास को अवरूद्ध किया और अंग्रेजी को बनाए रखा। सरकारी व्यापार से बने कोश जन सामान्य तक नहीं पहुंचे। उन्हें प्रतीक्षा थी राष्ट्रीयता के जोश की समाप्ति की। उसमें वे सफल रहे और राष्ट्रीयता की लहर का स्थान वोट-बैंक की राजनीति ने ले लिया। क्षेत्रीय भाषाओं के विरोध का नया स्वर गूंजा और उत्तर बनाम दक्षिण, हिन्दी बनाम अहिन्दी के नाम पर अंग्रेजी का और अंग्रेजी के बल पर देशी अंग्रेजी का शासन बना रहा।

इस प्रकार राजभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा का स्वस्थ अधूरा रहा। इसके बावजूद प्रयोजनमूलक हिन्दी का विकास अवरूद्ध नहीं हुआ। सरकारी तंत्र की उपेक्षा के बावजूद विश्व को उपभोक्ता बाजार मानने वाली विदेशी कंपनियों ने विज्ञान एवं सूचना के क्षेत्र में हिन्दी को महत्व दिया। भारतीय चैनलों से

अधिक विदेशी कंपनियां हिन्दी प्रदेश में हिन्दी को अपनाकर आगे बढ़ रही हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि वोट बैंक पर नहीं, पूंजी बैंक पर है और इस पर नियंत्रण करने के लिए चित्रपट जगत, वाणिज्यिक प्रतिष्ठान और सूचनातंत्र हिन्दी की उपेक्षा नहीं कर सकते।

इस तरह प्रयोजनमूलक हिन्दी के मार्ग में अनेक अवरोध स्वतंत्रता प्राप्ति से आ रह हैं और उनका सामना करते हुये भारत की यह भाषा अपना अस्तित्त्व अधिक प्रभावशाली बनाये जा रही है।

अंततः और निष्कर्षतः –

निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि साहित्य भाषा को प्रतिष्ठा दे सकता है, लेकिन विस्तार नहीं देता। भाषा को विस्तार देता है, उसका प्रयोजनमूलक स्वरुप। प्रयोजनमूलक भाषा के रूप में हिन्दी को वैश्विक प्रसार मिला है। हिन्दी के प्रयोजनमूलक स्वरूप के विकास के कारण ही आज संपूर्ण भारत में हिन्दी को समझने और बोलने वाले मिल जाते हैं। यह आवश्यक है कि यदि सही अर्थो में राजभाषा का क्रियान्वयन होता तो आज हिन्दी का प्रसार विदेशों में भी हो गया होता, लेकिन हिन्दी का विकास राजकीय प्रयोजनेतर माध्यमों के द्वारा हा रहा है, जिनमें चलचित्र, दूरदर्शन और उद्योग व्यापार के विदेशी प्रतिष्ठानों का योगदान अधिक है, इसलिए आज हिन्दी के प्रयोजनमूलक संदर्भो से जो क्षेत्र जुड़े हैं वे हैं –1. राजभाषा और उससे सबंद्ध क्षेत्र (कामकाजी क्षेत्र), 2. पत्रकारिता, 3. श्रव्य माध्यम, 4. दूरदर्शन और चलचित्र, 5. अनुवाद और उसके माध्यम के विज्ञान, तकनीक और व्यापार। इन क्षेत्रों में हिन्दी के प्रयोग का ज्ञान ही आज की उपभोक्तावादी सभ्यता में हिन्दी और हिन्दी भाषी को प्रतिष्ठित कर सकता है।

2

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (9 सितंबर 1850-6 जनवरी 1885) आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह कहे जाते हैं। वे हिन्दी में आधुनिकता के पहले रचनाकार थे। इनका मूल नाम 'हरिश्चन्द्र' था, 'भारतेन्दु' उनकी उपाधि थी। उनका कार्यकाल युग की सन्धि पर खड़ा है। उन्होंने रीतिकाल की विकृत सामन्ती संस्कृति की पोषक वृत्तियों को छोड़कर स्वस्थ परम्परा की भूमि अपनाई और नवीनता के बीज बोए। हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत के रूप में प्रसिद्ध भारतेन्दु जी ने देश की गरीबी, पराधीनता, शासकों के अमानवीय शोषण का चित्रण को ही अपने साहित्य का लक्ष्य बनाया। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया।

भारतेन्दु बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। हिंदी पत्रकारिता, नाटक और काव्य के क्षेत्र में उनका बहुमूल्य योगदान रहा। हिंदी में नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरुआत बंगला के विद्यासुन्दर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे किन्तु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका', 'कविवचनसुधा' और 'बाला बोधिनी' पत्रिकाओं का संपादन भी किया। वे एक उत्कृष्ट कवि, सशक्त व्यंग्यकार, सफल नाटककार, जागरूक

पत्रकार तथा ओजस्वी गद्यकार थे। इसके अलावा वे लेखक, कवि, संपादक, निबंधकार, एवं कुशल वक्ता भी थे। भारतेन्दु जी ने मात्र चौंतीस वर्ष की अल्पायु में ही विशाल साहित्य की रचना की। उन्होंने मात्र और गुणवत्ता की दृष्टि से इतना लिखा और इतनी दिशाओं में काम किया कि उनका समूचा रचनाकर्म पथदर्शक बन गया

जीवन परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म 9 सितम्बर, 1850 को काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ। उनके पिता गोपालचंद्र एक अच्छे कवि थे और 'गिरधरदास' उपनाम से कविता लिखा करते थे। 1857 में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय उनकी आयु 7 वर्ष की होगी। ये दिन उनकी आँख खुलने के थे। भारतेन्दु का कृतित्त्व साक्ष्य है कि उनकी आँखें एक बार खुलीं तो बन्द नहीं हुईं। उनके पूर्वज अंग्रेज-भक्त थे, उनकी ही कृपा से धनवान हुये थे। हरिश्चंद्र पाँच वर्ष के थे तो माता की मृत्यु और दस वर्ष के थे तो पिता की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार बचपन में ही माता-पिता के सुख से वंचित हो गये। विमाता ने खूब सताया। बचपन का सुख नहीं मिला। शिक्षा की व्यवस्था प्रथापालन के लिए होती रही। संवेदनशील व्यक्ति के नाते उनमें स्वतन्त्र रूप से देखने-सोचने-समझने की आदत का विकास होने लगा। पढ़ाई की विषय-वस्तु और पद्धति से उनका मन उखड़ता रहा। क्वींस कॉलेज, बनारस में प्रवेश लिया, तीन-चार वर्षों तक कॉलेज आते-जाते रहे पर यहाँ से मन बार-बार भागता रहा। स्मरण शक्ति तीव्र थी, ग्रहण क्षमता अद्‌भुत। इसलिए परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे। बनारस में उन दिनों अंग्रेजी पढ़े-लिखे और प्रसिद्ध लेखक - राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' थे, भारतेन्दु शिष्य भाव से उनके यहाँ जाते। उन्हीं से अंग्रेजी सीखी। भारतेन्दु ने स्वाध्याय से संस्कृत, मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू भाषाएँ सीख लीं।

उनको काव्य-प्रतिभा अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी। उन्होंने पांच वर्ष की अवस्था में ही निम्नलिखित दोहा बनाकर अपने पिता को सुनाया और सुकवि होने का आशीर्वाद प्राप्त किया-

लै ब्योढ़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सेन को हनन लगे भगवान।।

धन के अत्यधिक व्यय से भारतेंदु जी ऋणी बन गए और दुश्चिंताओं के कारण उनका शरीर शिथिल होता गया। परिणाम स्वरूप 1885 में अल्पायु में ही मृत्यु ने उन्हें ग्रस लिया।

साहित्यिक परिचय

भारतेन्दु के वृहत साहित्यिक योगदान के कारण ही 1857 से 1900 तक के काल को भारतेन्दु युग के नाम से जाना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, भारतेन्दु अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो पद्माकर, द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, तो दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।

पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही भारतेन्दु ने साहित्य सेवा प्रारम्भ कर दी थी। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक पत्रिका निकाली, जिसमें उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों की रचनाएं छपती थीं। वे बीस वर्ष की अवस्था में ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाए गए और आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने 1868 में 'कविवचनसुधा', 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 1874 में स्त्री शिक्षा के लिए 'बाला बोधिनी' नामक पत्रिकाएँ निकालीं। साथ ही उनके समांतर साहित्यिक संस्थाएँ भी खड़ी कीं। वैष्णव भक्ति के प्रचार के लिए उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की थी। राजभक्ति प्रकट करते हुए भी, अपनी देशभक्ति की भावना के कारण उन्हें अंग्रेजी हुकूमत का कोपभाजन बनना पड़ा। उनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर काशी के विद्वानों ने 1880 में उन्हें 'भारतेंदु' (भारत का चंद्रमा) की उपाधि प्रदान की। हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु की देन भाषा तथा साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में है। भाषा के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी बोली के उस रूप को प्रतिष्ठित किया जो उर्दू से भिन्न है और हिन्दी क्षेत्र की बोलियों का रस लेकर संवर्धित हुआ है। इसी भाषा में उन्होंने अपने सम्पूर्ण गद्य साहित्य की रचना की। साहित्य सेवा के साथ-साथ भारतेंदु जी की समाज-सेवा भी चलती रही। उन्होंने कई संस्थाओं की स्थापना में अपना योग दिया। दीन-दुखियों, साहित्यिकों तथा मित्रों की सहायता करना वे अपना कर्तव्य समझते थे।

प्रमुख कृतियाँ

मौलिक नाटक

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873ई., प्रहसन)

सत्य हरिश्चन्द्र (1875, नाटक)

श्री चंद्रावली (1876, नाटिका)

विषस्य विषमौषधम् (1876, भाण)

भारत दुर्दशा (1880, ब्रजरत्नदास के अनुसार 1876, नाट्य रासक),

नीलदेवी (1881, ऐतिहासिक गीति रूपक)।

अंधेर नगरी (1881, प्रहसन)

प्रेमजोगिनी (1875, प्रथम अंक में चार गर्भांक, नाटिका)

सती प्रताप (1883, अपूर्ण, केवल चार दृश्य, गीतिरूपक, बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया)

अनूदित नाट्य रचनाएँ

विद्यासुन्दर (1868, नाटक, संस्कृत 'चौरपंचाशिका' के यतीन्द्रमोहन ठाकुर कृत बँगला संस्करण का हिंदी अनुवाद)

पाखण्ड विडम्बन (कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक के तृतीय अंक का अनुवाद)

धनंजय विजय (1873, व्यायोग, कांचन कवि कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद)

कर्पूर मंजरी (1875, सट्टक, राजशेखर कवि कृत प्राकृत नाटक का अनुवाद)

भारत जननी (1877, नाट्यगीत, बंगला की 'भारतमाता' के हिंदी अनुवाद पर आधारित)

मुद्राराक्षस (1878, विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद)

दुर्लभ बंधु (1880, शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का अनुवाद)

निबंध संग्रह

नाटक

कालचक्र (जर्नल)

लेवी प्राण लेवी

भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?

कश्मीर कुसुम

जातीय संगीत

संगीत सार

हिंदी भाषा

स्वर्ग में विचार सभा

काव्यकृतियां

भक्तसर्वस्व (1870)

प्रेममालिका (1871),

प्रेम माधुरी (1875),

प्रेम-तरंग (1877),

उत्तरार्द्ध भक्तमाल (1876-77),

प्रेम-प्रलाप (1877),

होली (1879),

मधु मुकुल (1881),

राग-संग्रह (1880),

वर्षा-विनोद (1880),

विनय प्रेम पचासा (1881),

फूलों का गुच्छा- खड़ीबोली काव्य (1882)

प्रेम फुलवारी (1883)

कृष्णचरित्र (1883)

दानलीला

तन्मय लीला

नये जमाने की मुकरी

सुमनांजलि

बन्दर सभा (हास्य व्यंग)

बकरी विलाप (हास्य व्यंग)

कहानी

अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न

यात्र वृत्तान्त

सरयूपार की यात्रा

लखनऊ

आत्मकथा

एक कहानी– कुछ आपबीती, कुछ जगबीती

उपन्यास

पूर्णप्रकाश

चन्द्रप्रभा

वर्ण्य विषय

भारतेंदु जी की यह विशेषता रही कि जहां उन्होंने ईश्वर भक्ति आदि प्राचीन विषयों पर कविता लिखी वहां उन्होंने समाज सुधार, राष्ट्र प्रेम आदि नवीन विषयों को भी अपनाया। भारतेंदु की रचनाओं में अंग्रेजी शासन का विरोध, स्वतंत्रता के लिए उयाम आकांक्षा और जातीय भावबोध की झलक मिलती है। सामन्ती जकड़न में फंसे समाज में आधुनिक चेतना के प्रसार के लिए लोगों को संगठित करने का प्रयास करना उस जमाने में एक नई ही बात थी। उनके साहित्य और नवीन विचारों ने उस समय के तमाम साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को झकझोरा और उनके इर्द–गिर्द राष्ट्रीय भावनाओं से ओत–प्रोत लेखकों का एक ऐसा समूह बन गया जिसे भारतेन्दु मंडल के नाम से जाना जाता है।

विषय के अनुसार उनकी कविता शृंगार–प्रधान, भक्ति–प्रधान, सामाजिक समस्या प्रधान तथा राष्ट्र प्रेम प्रधान है।

शृंगार रस प्रधान भारतेंदु जी ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का सुंदर चित्रण किया है। वियोगावस्था का एक चित्र देखिए–

देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहें तही पछतायगी।
बिना प्रान प्यारे भए दरसे तिहारे हाय,
देखि लीजो आंखें ये खुली ही रह जायगी।

भक्ति प्रधान भारतेंदु जी कृष्ण के भक्त थे और पुष्टि मार्ग के मानने वाले थे। उनको कविता में सच्ची भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। वे कामना करते हैं–

बोल्यों करै नूपुर स्त्रीननि के निकट सदा
पद तल मांहि मन मेरी बिहरयौ करै।
बाज्यौ करै बंसी धुनि पूरि रोम–रोम,
मुख मन मुस्कानि मंद मनही हास्यौ करै।

सामाजिक समस्या प्रधान भारतेंदु जी ने अपने काव्य में अनेक सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य किए। महाजनों और रिश्वत लेने वालों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा–

चूरन अमले जो सब खाते,
दूनी रिश्वत तुरत पचाते।
चूरन सभी महाजन खाते,
जिससे जमा हजम कर जाते।

राष्ट्र-प्रेम प्रधान भारतेंदु जी के काव्य में राष्ट्र-प्रेम भी भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत के प्राचीन गौरव की झांकी वे इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं –

भारत के भुज बल जग रच्छित,
भारत विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत विस्तारा,
भारत भय कंपिथ संसारा।

प्राकृतिक चित्रण प्रकृति चित्रण में भारतेंदु जी को अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि वे मानव-प्रकृति के शिल्पी थे, बाह्य प्रकृति में उनका मर्मपूर्ण रूपेण नहीं रम पाया। अतः उनके अधिकांश प्रकृति चित्रण में मानव हृदय को आकर्षित करने की शक्ति का अभाव है। चंद्रावली नाटिका के यमुना-वर्णन में अवश्य सजीवता है तथा उसकी उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं नवीनता लिए हुए हैं-

कै पिय पद उपमान जान यह निज उर धारत,
कै मुख कर बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झांईं,
कै ब्रज हरिपद परस हेतु कमला बहु आईं।

प्रकृति वर्णन का यह उदहारण देखिये, जिसमे युमना की शोभा कितनी दर्शनीय है-

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहूँ सुहाये।

भाषा

भारतेन्दु के समय में राजकाज और संभ्रांत वर्ग की भाषा फारसी थी। वहीं, अंग्रेजी का वर्चस्व भी बढ़ता जा रहा था। साहित्य में ब्रजभाषा का बोलबाला था। फारसी के प्रभाव वाली उर्दू भी चलन में आ गई थी। ऐसे समय में भारतेन्दु ने लोकभाषाओं और फारसी से मुक्त उर्दू के आधार पर खड़ी बोली का विकास किया। आज जो हिंदी हम लिखते-बोलते हैं, वह भारतेंदु की ही देन है। यही

कारण है कि उन्हें आधुनिक हिंदी का जनक माना जाता है। केवल भाषा ही नहीं, साहित्य में उन्होंने नवीन आधुनिक चेतना का समावेश किया और साहित्य को 'जन' से जोड़ा।

भारतेन्दु की रचनाधर्मिता में दोहरापन दिखता है। कविता जहां वे ब्रज भाषा में लिखते रहे, वहीं उन्होंने बाकी विधाओं में सफल हाथ खड़ी बोली में आजमाया। सही मायने में कहें तो भारतेंदु आधुनिक खड़ी बोली गद्य के उन्नायक हैं।

भारतेन्दु जी के काव्य की भाषा प्रधानतः ब्रज भाषा है। उन्होंने ब्रज भाषा के अप्रचलित शब्दों को छोड़ कर उसके परिकृष्ट रूप को अपनाया। उनकी भाषा में जहां-तहां उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्द भी जाते हैं।

उनके गद्य की भाषा सरल और व्यवहारिक है। मुहावरों का प्रयोग कुशलतापूर्वक हुआ है।

शैली

भारतेंदु जी के काव्य में निम्नलिखित शैलियों के दर्शन होते हैं -

1. रीति कालीन रसपूर्ण अलंकार शैली - शृंगारिक कविताओं में,
2. भावात्मक शैली - भक्ति के पदों में,
3. व्यंग्यात्मक शैली - समाज-सुधार की रचनाओं में,
4. उद्‍बोधन शैली - देश-प्रेम की कविताओं में।

रस

भारतेंदु जी ने लगभग सभी रसों में कविता की है। शृंगार और शान्त रसों की प्रधानता है। शृंगार के दोनों पक्षों का भारतेंदु जी ने सुंदर वर्णन किया है। उनके काव्य में हास्य रस की भी उत्कृष्ट योजना मिलती है।

छन्द

भारतेंदु जी ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदों को अपनाया है। उन्होंने केवल हिंदी के ही नहीं उर्दू, संस्कृत, बंगला भाषा के छंदों को भी स्थान दिया है। उनके काव्य में संस्कृत के वसंत तिलका, शार्दूल विक्रीड़ित, शालिनी आदि हिंदी के चौपाई, छप्पय, रोला, सोरठा, कुंडलियाँ, कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि, बंगला के पयार तथा उर्दू के रेखता, गजल छंदों का प्रयोग हुआ है। इनके

अतिरिक्त भारतेंदु जी कजली, ठुमरी, लावनी, मल्हार, चौती आदि लोक छंदों को भी व्यवहार में लाए हैं।

अलंकार

अलंकारों का प्रयोग भारतेंदु जी के काव्य में सहज रूप से हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और संदेह अलंकारों के प्रति भारतेंदु जी की अधिक रुचि है। शब्दालंकारों को भी स्थान मिला है। निम्न पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और अनुप्रास अलंकार की योजना स्पष्ट दिखाई देती है–

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाए।।

महत्वपूर्ण कार्य

नवीन साहित्यिक चेतना और स्वभाषा प्रेम का सूत्रपात

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु जी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वे बहूमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन अपूर्व है। वे हिंदी में नव जागरण का संदेश लेकर अवतरित हुए। उन्होंने हिंदी के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया। भाव, भाषा और शैली में नवीनता तथा मौलिकता का समावेश करके उन्हें आधुनिक काल के अनुरूप बनाया। आधुनिक हिंदी के वे जन्मदाता माने जाते हैं। हिंदी के नाटकों का सूत्रपात भी उन्हीं के द्वारा हुआ।

भारतेन्दु अपने समय के साहित्यिक नेता थे। उनसे कितने ही प्रतिभाशाली लेखकों को जन्म मिला। मातृ–भाषा की सेवा में उन्होंने अपना जीवन ही नहीं सम्पूर्ण धन भी अर्पित कर दिया। हिंदी भाषा की उन्नति उनका मूलमंत्र था -

निज भाषा उन्नति लहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को शूल।।
विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देसन से लै करहू, भाषा माहि प्रचार।।

1882 में शिक्षा आयोग (हन्टर कमीशन) के समक्ष अपनी गवाही में हिन्दी को न्यायालयों की भाषा बनाने की महत्ता पर उन्होने कहा–

यदि हिन्दी अदालती भाषा हो जाए, तो सम्मन पढ़वाने, के लिए दो–चार आने कौन देगा, और साधारण–सी अर्जी लिखवाने के लिए कोई रुपया–आठ आने क्यों देगा। तब पढ़ने वालों को यह अवसर कहाँ मिलेगा कि गवाही के

सम्मन को गिरफ्तारी का वारंट बता दें। सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही (भारत) ऐसा देश है जहाँ अदालती भाषा न तो शासकों की मातृभाषा है और न प्रजा की। यदि आप दो सार्वजनिक नोटिस, एक उर्दू में, तथा एक हिंदी में, लिखकर भेज दें तो आपको आसानी से मालूम हो जाएगा कि प्रत्येक नोटिस को समझने वाले लोगों का अनुपात क्या है। जो सम्मन जिलाधीशों द्वारा जारी किये जाते हैं उनमें हिंदी का प्रयोग होने से रैयत और जमींदार को हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। साहूकार और व्यापारी अपना हिसाब-किताब हिंदी में रखते हैं। स्त्रियाँ हिंदी लिपि का प्रयोग करती हैं। पटवारी के कागजात हिंदी में लिखे जाते हैं और ग्रामों के अधिकतर स्कूल हिंदी में शिक्षा देते हैं।

इसी सन्दर्भ में 1868 ई में 'उर्दू का स्यापा' नाम से उन्होंने एक व्यंग्य कविता लिखी-

है है उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय हाय।
मेरी प्यारी हाय हाय। मुंशी मुल्ला हाय हाय।
बल्ला बिल्ला हाय हाय। रोये पीटें हाय हाय।
टाँग घसीटैं हाय हाय। सब छिन सोचौं हाय हाय।
डाढ़ी नोचौं हाय हाय। दुनिया उल्टी हाय हाय।
रोजी बिल्टी हाय हाय। सब मुखतारी हाय हाय।
किसने मारी हाय हाय। खबर नवीसी हाय हाय।
दाँत पीसी हाय हाय। एडिटर पोसी हाय हाय।
बात फरोशी हाय हाय। वह लस्सानी हाय हाय।
चरब-जुबानी हाय हाय। शोख बयानि हाय हाय।
फिर नहीं आनी हाय हाय।

अपनी इन्हीं कार्यो के कारण भारतेन्दु हिन्दी साहित्याकाश के एक दैदीप्यमान नक्षत्र बन गए और उनका युग भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, कविवचनसुधा, हरिश्चन्द्र मैग्जीन, स्त्री बाला बोधिनी जैसे प्रकाशन उनके विचारशील और प्रगतिशील सम्पादकीय दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

साम्राज्य-विरोधी चेतना तथा स्वदेश प्रेम का विकास

भारतेन्दु का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होने हिन्दी साहित्य को, और उसके साथ समाज को साम्राज्य-विरोधी दिशा में बढ़ने की प्रेरणा दी।

1870 में जब कविवचनसुधा में उन्होने लॉर्ड मेयो को लक्ष्य करके 'लेवी प्राण लेवी' नामक लेख लिखा तब से हिन्दी साहित्य में एक नयी साम्राज्य-विरोधी चेतना का प्रसार आरम्भ हुआ। 6 जुलाई 1874 को कविवचनसुधा में लिखा कि जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वतन्त्र हुआ उसी प्रकार भारत भी स्वतन्त्रता लाभ कर सकता है। उन्होंने तदीय समाज की स्थापना की जिसके सदस्य स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रतिज्ञा करते थे। भारतेन्दु ने विलायती कपड़ों के बहिष्कार की अपील करते हुए स्वदेशी का जो प्रतिज्ञा पत्र 23 मार्च, 1874 के 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित किया, वह समूचे हिंदी समाज का प्रतिज्ञा पत्र बन गया। उसमें भारतेंदु ने कहा था, हमलोग सर्वान्तर्यामी, सब स्थल में वर्तमान, सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिरेंगे और जो कपड़ा कि पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की तक हमारे पास हैं उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भाँति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे, हिंदुस्तान का ही बना कपड़ा पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देश हितैषी इस उपाय के बाद में अवश्य उद्योग करेंगे।

सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने ही साहित्य में जन भावनाओं और आकांक्षाओं को स्वर दिया था। पहली बार साहित्य में 'जन' का समावेश भारतेन्दु ने ही किया। उनके पहले काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का ही बोलबाला था। साहित्य पतनशील सामन्ती संस्कृति का पोषक बन गया था, पर भारतेन्दु ने साहित्य को जनता की गरीबी, पराधीनता, विदेशी शासकों के अमानवीय शोषण के चित्रण और उसके विरोध का माध्यम बना दिया। अपने नाटकों, कवित्त, मुकरियों और प्रहसनों के माध्यम से उन्होंने अंग्रेजी राज पर कटाक्ष और प्रहार किए, जिसके चलते उन्हें अंग्रेजों का कोपभाजन भी बनना पड़ा।

भारतेंदु अंग्रेजों के शोषण तंत्र को भली-भांति समझते थे। अपनी पत्रिका कविवचनसुधा में उन्होंने लिखा था–

जब अंग्रेज विलायत से आते हैं प्रायः कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिंदुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं तब कुबेर बनकर जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।

यही नहीं, 20वीं सदी की शुरुआत में दादाभाई नौरोजी ने धन के अपवहन (ड्रेन ऑफ वेल्थ) के जिस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था, भारतेन्दु ने बहुत पहले ही शोषण के इस रूप को समझ लिया था। उन्होंने लिखा था–

अंगरेजी राज सुखसाज सजे अति भारी, पर सब धन विदेश चलि जात ये ख्वारी।

अंग्रेज भारत का धन अपने यहां लेकर चले जाते हैं और यही देश की जनता की गरीबी और कष्टों का मूल कारण है, इस सच्चाई को भारतेंदु ने समझ लिया था। कविवचनसुधा में उन्होंने जनता का आह्वान किया था–

भाइयो! अब तो सन्नद्ध हो जाओ और ताल ठोक के इनके सामने खड़े तो हो जाओ। देखो भारतवर्ष का धन जिसमें जाने न पावे वह उपाय करो।"

भारत की सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न

भारतेन्दु की वैश्विक चेतना भी अत्यन्त प्रखर थी। उन्हें अच्छी तरह पता था कि विश्व के कौन से देश कैसे और कितनी उन्नति कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने सन् 1884 में बलिया के दादरी मेले में 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया था। यह लेख उनकी अत्यन्त प्रगतिशील सोच का परिचायक भी है। इसमें उन्होंने लोगों से कुरीतियों और अंधविश्वासों को त्यागकर अच्छी-से-अच्छी शिक्षा प्राप्त करने, उद्योग-धंधों को विकसित करने, सहयोग एवं एकता पर बल देने तथा सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होने का आह्वान किया था। ददरी जैसे धार्मिक और लोक मेले के साहित्यिक मंच से भारतेंदु का यह उद्बोधन अगर देखा जाए तो आधुनिक भारतीय सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिंतन का प्रस्थानबिंदु है। भाषण का एक छोटा सा अंश देखिए–

हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जबकि इनके पुरखों के पास कोई भी सामान नहीं था, तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्टी की कुटियों में बैठ करके बाँस की नालियों से जो ताराग्रह आदि बेध करके उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपये के लागत की विलायत में जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को बेध करने में भी वही गति ठीक आती है और जब आज इस काल में हम लोगों को अंगरेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं तब हम लोग निरी चुंगी के कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है

कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन अंग्रेज फ्रांसीस आदि तुर्की ताजी सब सरपट्ट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमी पहले छू लें।

विचारों की स्पष्टता और उसे विनोदप्रियता के साथ किस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका यह निबन्ध बेजोड़ उदाहरण है।

वास्तव में उनका यह लेख भारत दुर्दशा नामक उनके नाटक का एक तरह से वैचारिक विस्तार है। भारत दुर्दशा में वे कहते हैं,

रोअहुं सब मिलिकै आवहुं भारत भाई।
हा, हा ! भारत दुर्दशा देखी न जाई॥

भारतेन्दु अच्छी तरह समझ चुके थे कि 'अंग्रेजी शासन भारतीयों के लाभ के लिए है' यह पूर्णतः खोखला दावा था और दुष्प्रचार था। अँग्रेज किस तरह भारत की संपदा लूट रहे थे, इसका संकेत भारतेन्दु ने 'कविवचनसुधा' के 7 मार्च, 1874 के अंक में अपनी टिप्पणी में दिया, सरकारी पक्ष का कहना है कि हिंदुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन न हो सकता था। यह सब सरकार की कृपा से हुआ। हिंदुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी नहीं। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं है। रेलवे कंपनी वाले जो द्रव्य व्यय किया है, उसका व्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है।

भारतेन्दु स्त्री-पुरुष की समानता के इतने बड़े पैरोकार थे कि 'कविवचनसुधा' के 3 नवंबर, 1873 के अंक में उन्होंने लिखा-

यह बात सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी, जब तक यहाँ की स्त्रियों की भी शिक्षा न होगी क्योंकि यदि पुरुष विद्वान होंगे और उनकी स्त्रियाँ मूर्ख तो उनमें आपस में कभी स्नेह न होगा और नित्य कलह होगी।

भारतेन्दु ने अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का समापन इस भरत-वाक्य से किया है-

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइ, हरि पद रति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै, कर-दुःख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर नारि-नर सम होंहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं॥

3

राधाकृष्ण दास

राधाकृष्ण दास (1865– 2 अप्रैल 1907) हिन्दी के प्रमुख सेवक तथा साहित्यकार थे। वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे। शारीरिक कारणों से औपचारिक शिक्षा कम होते हुए भी स्वाध्याय से इन्होने हिन्दी, बंगला, गुजराती, उर्दू, आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे प्रसिद्ध सरस्वती पत्रिका के सम्पादक मंडल में रहे। वे नागरी प्रचारिणी सभा के प्रथम अध्यक्ष भी थे।

इनके पिता का नाम कल्याणदास तथा माता का नाम गंगाबीबी था, जो भारतेंदु हरिश्चंद्र की बूआ थीं। शरीर से प्रकृत्या अस्वस्थ तथा अशक्त होने के कारण इनकी शिक्षा साधारण ही रही पर विद्याध्ययन की ओर रुचि होने से इन्होंने हिंदी, बँगला, उर्दू आदि में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। पंद्रह वर्ष की अवस्था में ही 'दु:खिनी बाला' नामक छोटा रूपक लिखा। इसके एक ही वर्ष बाद 'निस्सहाय हिंदू' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा। इसी के अनंतर 'स्वर्णजता' आदि पुस्तकों का बँगला से हिंदी में अनुवाद किया। भारतीय इतिहास की ओर रुचि हो जाने से इसी काल में 'आर्यचरितामृत' रूप में बाप्पा रावल की जीवनी तथा 'महारानी पद्मावती' रूपक भी लिखा। समाजसुधार पर भी इन्होंने कई लेख लिखे।

यह अत्यन्त कृष्णभक्त थे। 'धर्मालाप' रचना में अनेक धर्मों का वार्तालाप कराकर हरिभक्ति को ही अंत में प्रधानता दी है। इन्होंने तीर्थयात्रा कर अनेक कृष्णलीला–भूमियों का दर्शन किया और उनका जो विवरण लिया है वह बड़ा हृदयग्राही है।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा, हरिश्चन्द्र विद्यालय आदि अनेक सभा संथाओं के उन्नयन में इन्होंने सहयोग दिया। सरस्वती पत्रिका का प्रकाशनारम्भ इन्हीं के सम्पादकत्व में हुआ और अदालतों में नागरी के प्रचार के लिए भी इन्होंने प्रयत्न किया। सभा के हिन्दी पुस्तकों के खोज विभाग के कार्य का शुभारम्भ इन्हीं के द्वारा हुआ। स्वास्थ्य ठीक न रहने से रोगाक्रान्त होकर यह बहत्तर वर्ष की अवस्था में 1 अप्रैल, सन् 1907 ई. को गोलोक सिधारे।

कृतियाँ

इनकी अन्य रचनाएँ नागरीदास का जीवन चरित, हिंदी भाषा के पत्रों का सामयिक इतिहास, राजस्थान केसरी व महाराणा प्रताप सिंह नाटक, भारतेन्दु जी की जीवनी, रहिमन विलास आदि हैं। 'दु:खिनी बाला', 'पद्मावती' तथा 'महाराणा प्रताप' नामक उनके नाटक बहुत प्रसिद्ध हुए। 1889 में लिखित उपन्यास 'निस्सहाय हिन्दू' में हिन्दुओं की निस्सहायता और मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता का चित्रण है। भारतेन्दु विरचित अपूर्ण हिन्दी नाटक 'सती प्रताप' को इन्होने इस योग्यता से पूर्ण किया है कि पाठकों को दोनों की शैलियों में कोई अन्तर ही नहीं प्रतीत होता।

नागरीदास

नागरीदास ब्रज–भक्ति–साहित्य में सर्वाधिक प्रसिद्धि पानेवाले कवि एवं कृष्णगढ़ (राजस्थान) के राजा थे। इनका नाम सांवतसिंह था। नागरीदास बल्लभकुल के गोस्वामी रणछोड़ जी के शिष्य थे। इनके इष्टदेव श्री कल्याणराय जी तथा श्री नृत्यगोपाल जी थे। ये दोनों भगवत् विग्रह कृष्णगढ़ में आज भी विराजमान हैं।

नागरीदास का जन्म संवत् 1756 में हुआ था। इनके पिता का नाम राजसिंह था। सावंतसिंह ने 13 वर्ष की अवस्था में ही बूँदी के हाड़ा जैतसिंह को मारा था। यह बड़े शूरवीर थे। राजसिंह के स्वर्गवासी होने पर बादशाह अहमदशाह ने इनको कृष्णगढ़ की गद्दी पर बिठाना चाहा परन्तु इनके भाई बहादुरसिंह जोधपुर नरेश की सहायता से पहले ही राज्य पर अधिकार कर बैठे थे। सावंतसिंह ने मराठों से संधि कर ली, और बहादुरसिंह को हराकर राज्य पर अधिकार जमा लिया। किंतु गृहकलह से इनका मन विरक्त हो गया, और यह मत इन्होंने बना लिया कि 'सबै कलह इक राज में, राज कहल को मूल।' राज्य का शासन भार

सा प्रतीत होने लगा। कृष्णभक्त तो थे ही, राज्य की ओर से विरक्ति हो जाने के फलस्वरूप इनके मन में ब्रजवास करने की इच्छा प्रबल हो उठी–

ब्रज में हवै हवै, कढ़त दिन, कितै दिए लै खोय।
अबकै अबकै, कहत ही, वह 'अबकै' कब होय।

राजकाज छोड़कर नागरीदास वृन्दावन को चल दिए। इनके रचे पद ब्रजमंडल में पहले ही काफी प्रसिद्ध हो चुके थे, अतः ब्रजवासियों ने बड़े प्रेम से इनका स्वागत किया। नागरीदास जी ने स्वयं लिखा है –

इक मिलत भुजनि भरि दौरि दौरि,
इक टेरि बुलावत और औरि,
कोउ चले जात सहजै सुभाय,
पद गाय उठत भोगहिं सुनाय।
अतिसहय विरक्त जिनके सुभाव,
जे गनत न राजा रकं राव,
ते सिमिटि सिमिटि फिरि आय आय,
फिरि छांड़त पद पढ़वाय गाय।

सर्वस्व त्यागकर अब ब्रज की रज को ही सर्वस्व मान लिया–

सर्वस के सिर धूरि दे, सर्वस कै ब्रज धूरि

रचनाएँ

नागरीदास ने छोटी बड़ी कुल 75 रचनाएँ की हैं। 73 रचनाओं का संग्रह 'नागरसमुच्चय' के नाम से ज्ञानसागर यंत्रालय से प्रकाशित हुआ है। इन रचनाओं को तीन भागों में विभक्त किया गया है – वैराग्यसागर, सिंगारसागर और पदसागर। पद, कवित्त, सवैए, दोहे, मांझ, अरिल्ल आदि छंदों में नागरीदास ने प्रेम, भक्ति और वैराग्य पर सरस रचनाएँ की हैं, जो टकसाली हैं। हिंडोला, साँझी, दीवाली, फाग आदि त्यौहारों, छह ऋतुओं और अनेक कृष्ण लीलाओं का इन्होंने सुंदर चित्रण किया है। शिखनख एवं नखशिख पर भी लिखा है। ब्रजभूमि के प्रति नागरीदास जी के भक्ति उद्‌गार अत्यंत अनूठे हैं। भाषा है ब्रजभाषा। कहीं–कहीं पर फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। अष्टछाप तथा हितहरिवंश और स्वामी हरिदास के संप्रदाय के भक्तकवियों के ललित पदों से नागरीदास के पद बहुत कुछ मिलते–जुलते हैं।

नागरीदास नाम के चार और भक्त कवि हुए हैं –

(1) महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के शिष्य आगरावाले,
(2) स्वामी हरिदास की शिष्यपरंपरा में उत्पन्न नागरीदास,
(3) हितहरिवंश के संप्रदाय के कवि,
(4) चौतन्य महाप्रभु के संप्रदाय के कवि।

नागरीदास नाम से कई भक्त कवि ब्रज में हो गए, पर उनमें सबसे प्रसिद्ध 'कृष्णगढ़ नरेश महाराज सावंतसिंह' जी हैं जिनका जन्म पौष कृष्ण 12 संवत् 1756 में हुआ था। ये बाल्यावस्था से ही बड़े शूरवीर थे। 13 वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'बूँदी' के हाड़ा जैत सिंह को मारा था। संवत् 1804 में ये दिल्ली के शाही दरबार में थे। इसी बीच में इनके पिता 'महाराज राजसिंह' का देहांत हुआ। बादशाह अहमदशाह ने इन्हें दिल्ली में ही कृष्णागढ़ राज्य का उत्तराधिकार दिया, पर जब ये कृष्णगढ़ पहुँचे तब राज्य पर अपने भाई बहादुरसिंह का अधिकार पाया जो जोधपुर की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर बैठे थे। ये ब्रज की ओर लौट आए और मराठों से सहायता लेकर इन्होंने अपने राज्य पर अधिकार किया। इस पर गृहकलह से इन्हें कुछ ऐसी विरक्ति हो गई कि ये सब छोड़ छाड़कर वृंदावन चले गए और वहाँ विरक्त भक्त के रूप में रहने लगे। अपनी उस समय की चित्तवृत्ति का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है –

जहाँ कलह तहँ सुख नहीं, कलह सुखन को सूल।
सबै कलह इक राज में, राज कलह को मूल
कहा भयो नृप हू भए, ढोवत जग बेगार।
लेत न सुख हरि भक्ति को, सकल सुखन को सार
मैं अपने मन मूढ़ तें, डरत रहत हौं हाय।
वृंदावन की ओर तें, मति कबहूँ फिर जाय

कार्यक्षेत्र

वृंदावन पहुँचने पर वहाँ के भक्तों ने इनका बड़ा आदर किया। ये लिखते हैं कि पहले तो 'कृष्णगढ़ के राजा' यह व्यावहारिक नाम सुनकर वे कुछ उदासीन से रहे पर जब उन्होंने मेरे 'नागरीदास' नाम को सुना तब तो उन्होंने उठकर दोनों भुजाओं से मेरा आलिंगन किया।

सुनि व्यावहारिक नाम को ठाढ़े दूरि उदास
दौरि मिले भरि नैन सुनि नाम नागरीदास।

इक मिलत भुजन भरि दौर दौर
इक टेरि बुलावत और ठौर।

वृंदावन में उक्त समय बल्लभाचार्य जी की गद्दी की पाँचवीं पीढ़ी थी। वृंदावन से इन्हें इतना प्रेम था कि एक बार ये वृंदावन के उस पार जा पहुँचे। रात को जब यमुना के किनारे लौटकर आए तब वहाँ कोई नाव बेड़ा न था। वृंदावन का वियोग इन्हें इतना असह्य हो गया कि ये यमुना में कूद पड़े और तैरकर वृंदावन आए। इस घटना का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है –

देख्यो श्रीवृंदा बिपिन पार।
नहिं नाव, नाहिं कछु और दाव।
रहे बार लगन की लगै लाज।
यह चित्त माहिं करिकै विचार।

वृंदावन में इनके साथ इनकी उपपत्नी 'बणीठणीजी' भी रहती थीं, जो कविता भी करती थीं। ये भक्त कवियों में बहुत ही प्रचुर कृति छोड़ गए हैं। इनका कविताकाल संवत् 1780 से 1819 तक माना जा सकता है। इनका पहला ग्रंथ 'मनोरथमंजरी' संवत् 1780 में पूरा हुआ। इन्होंने संवत् 1814 में आश्विन शुक्ल 10 को राज्य पर अपने पुत्र सरदारसिंह जी को प्रतिष्ठित करके घरबार छोड़ा। इससे स्पष्ट है कि विरक्त होने के बहुत पहले ही ये कृष्णभक्ति और ब्रजलीला संबंधिनी बहुत सी पुस्तकें लिख चुके थे।

रचनाएँ

कृष्णगढ़ में इनकी लिखी छोटी बड़ी सब मिलाकर 73 पुस्तकें संग्रहीत हैं जिनके नाम ये हैं–

सिंगारसार
गोपीप्रेमप्रकाश (संवत् 1800)
पदप्रसंगमाला
ब्रजबैकुंठ तुला
ब्रजसार (संवत् 1799)
भोरलीला
प्रातरसमंजरी
बिहारचंद्रिका (संवत् 1788)
भोजनानंदाष्टक

जुगलरस माधुरी
फूलविलास
गोधान–आगमन दोहन
आनंदलग्नाष्टक
फागविलास
ग्रीष्मबिहार
पावसपचीसी
गोपीबैनविलास
पदमुक्तावली
शीतसागर
इश्कचमन
रासरसलता
नैनरूपरस
मजलिस मंडन
अरिल्लाष्टक
सदा की माँझ
वर्षा ऋतु की माँझ
होरी की माँझ
कृष्णजन्मोत्सव कवित्त
प्रियाजन्मोत्सव कवित्त
साँझी के कवित्त
रास के कवित्त
चाँदनी के कवित्त
दिवारी के कवित्त
गोवर्धनधारन के कवित्त
होरी के कवित्त
फागगोकुलाष्टक
हिंडोरा के कवित्त
वर्षा के कवित्त
भक्तिमगदीपिका (1802)
फागबिहार (1808)

तीर्थानंद (1810)
बालविनोद
वनविनोद (1809)
सुजानानंद (1810)
भक्तिसार (1799)
देहदशा
वैराग्यवल्ली
रसिकरत्नावली (1782)
कलिवैराग्यवल्लरी (1795)
अरिल्लपचीसी
छूटक विधि
पारायण विधि प्रकाश (1799)
शिखनख
नखशिख छूटक कवित्त
चचरियाँ
रेखता
मनोरथमंजरी (1780)
रामचरित्रमाला
पदप्रबोधमाला
जुगल भक्तिविनोद (1808)
रसानुक्रम के दोहे
शरद की माँझ
साँझी फूल बीनन संवाद
वसंतवर्णन
रसानुक्रम के कवित्त
फाग खेलन समेतानुक्रम के कवित्त
निकुंजविलास (1794)
गोविंद परिचयी
वनजन प्रशंसा
छूटक दोहा
उत्सवमाला

इनके अतिरिक्त 'वैनविलास' और 'गुप्तरसप्रकाश' नाम की दो अप्राप्य पुस्तकें भी हैं। इस लंबी सूची को देखकर आश्चर्य करने के पहले पाठक को यह जान लेना चाहिए कि ये नाम भिन्न-भिन्न प्रसंगों वा विषयों के कुछ पद्यों में वर्णनमात्र हैं, जिन्हें यदि एकत्र करें तो 5 या 7 अच्छे आकार की पुस्तकों में आ जाएँगे। अतः ऊपर लिखे नामों को पुस्तकों के नाम न समझकर वर्णन के शीर्षक मात्र समझना चाहिए। इनमें से बहुतों को पाँच-पाँच, दस-दस, पचीस पचीस, पद्य मात्र समझिए।

भाषा शैली

कृष्णभक्त कवियों की अधिकांश रचनाएँ इसी ढंग की हैं। भक्तिकाल के इतने अधिक कवियों की कृष्णलीला संबंधिनी फुटकल उक्तियों से ऊबे हुए और केवल साहित्यिक दृष्टि रखने वाले पाठकों को नागरीदासजी की ये रचनाएँ अधिकांश में पिष्टपेषण सी प्रतीत होंगी। पर ये भक्त थे और साहित्य रचना की नवीनता आदि से कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। फिर भी इनकी शैली और भावों में बहुत कुछ नवीनता और विशिष्टता है। कहीं कहीं बड़े सुंदर भावों की व्यंजना इन्होंने की है। कालगति के अनुसार फारसी काव्य का आशिकी और सूफियाना रंग ढंग भी कहीं-कहीं इन्होंने दिखाया है। इन्होंने गाने के पदों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, अरिल्ल, रोला आदि कई छंदों का व्यवहार किया है। भाषा भी सरस और चलती है विशेषतः पदों की। कवित्तों की भाषा में वह चलतापन नहीं है। कविता के नमूने नीचे देखिए।

काहे को रे नाना मत सुनै तू पुरातन के,
तै ही कहा? तेरी मूढ़ गूढ़ मति पंग की।
वेद के विवादनि को पावैगो न पार कहूँ,
छाँड़ि देहु आस सब दान न्हान गंग की
और सिद्धि सोधो अब, नागर, न सिद्ध कछू,
मानि लेहु मेरी कही वात्तरा सुढंग की।
जाइ ब्रज भोरे! कोरे मन को रँगाइ ले रे,
वृंदावन रेनु रची गौर स्याम रंग की
जौ मेरे तन होते दोय।
मैं काहू तें कछु नहिं कहतो, मोतें कछु कहतो नहिं कोय
एक जो तन हरिविमुखन के सँग रहतो देस विदेस।

विविधा भाँति के जग दुरूख सुख जहँ, नहीं भक्ति लवलेस
एक जौ तन सतसंग रंग रँगि रहतो अति सुखपूर।
जनम सफल करि लेतो ब्रज बसि जहँ ब्रज जीवन मूर
द्वै तन बिन द्वै काज न हवै हैं, आयु तौ छिन छिन छीजै।
नागरिदास एक तन तें अब कहौ काह करि लीजै
सब मजहब सब इल्म अरु सबै ऐश के स्वाद।
अरे इश्क के असर बिनु ये सबही बरबाद
आया इश्क लपेट में, लागी चश्म चपेट।
सोई आया खलक में, और भरैं सब पेट
भादों की कारी अंधयारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावै।
स्यामा जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रसरीति मलारहि गावै
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै।
पौन मया करि घूँघट टारै, दया करि दामिनि दीप दिखावै
बिहारीलाल चौबे या बिहारी हिंदी के रीति काल के प्रसिद्ध कवि थे।

बिहारी

जीवन परिचय

बिहारीलाल का जन्म संवत् 1603 ई. ग्वालियर में हुआ। वे जाति के माथुर चौबे (चतुर्वेदी) थे। उनके पिता का नाम केशवराय था। जब बिहारी 8 वर्ष के थे तब इनके पिता इन्हे ओरछा ले आये तथा उनका बचपन बुंदेलखंड में बीता। इनके गुरु नरहरिदास थे और युवावस्था ससुराल मथुरा में व्यतीत हुई, जैसे की निम्न दोहे से प्रकट है –

जन्म ग्वालियर जानिये खंड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर मथुरा बसि ससुराल।।

जयपुर–नरेश सवाई राजा जयसिंह अपनी नयी रानी के प्रेम में इतने डूबे रहते थे कि वे महल से बाहर भी नहीं निकलते थे और राज–काज की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। मंत्री आदि लोग इससे बड़े चिंतित थे, किंतु राजा से कुछ कहने को शक्ति किसी में न थी। बिहारी ने यह कार्य अपने ऊपर लिया। उन्होंने निम्नलिखित दोहा किसी प्रकार राजा के पास पहुंचाया –

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सौं बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

इस दोहे ने राजा पर मंत्र जैसा कार्य किया। वे रानी के प्रेम-पाश से मुक्त होकर पुनः अपना राज-काज संभालने लगे। वे बिहारी की काव्य कुशलता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने बिहारी से और भी दोहे रचने के लिए कहा और प्रति दोहे पर एक स्वर्ण मुद्रा देने का वचन दिया। बिहारी जयपुर नरेश के दरबार में रहकर काव्य-रचना करने लगे, वहां उन्हें पर्याप्त धन और यश मिला।

बिहारी की एकमात्र रचना सतसई (सप्तशती) है। यह मुक्तक काव्य है। इसमें 719 दोहे संकलित हैं। कतिपय दोहे संदिग्ध भी माने जाते हैं। सभी दोहे सुंदर और सराहनीय हैं तथापि तनिक विचारपूर्वक बारीकी से देखने पर लगभग 200 दोहे अति उत्कृष्ट ठहरते हैं। 'सतसई' में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। ब्रजभाषा ही उस समय उत्तर भारत की एक सर्वमान्य तथा सर्व-कवि-सम्मानित ग्राह्य काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। इसका प्रचार और प्रसार इतना हो चुका था कि इसमें अनेकरूपता का आ जाना सहज संभव था। बिहारी ने इसे एकरूपता के साथ रखने का स्तुत्य सफल प्रयास किया और इसे निश्चित साहित्यिक रूप में रख दिया। इससे ब्रजभाषा मँजकर निखर उठी। इस सतसई को तीन मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं- नीति विषयक, भक्ति और अध्यात्म भावपरक, तथा श्रृंगारपरक। इनमें से श्रृंगारात्मक भाग अधिक है। कला-चमत्कार सर्वत्र चातुर्य के साथ प्राप्त होता है।

श्रृंगारात्मक भाग में रूपांग सौंदर्य, सौंदर्योपकरण, नायक-नायिकाभेद तथा हाव, भाव, विलास का कथन किया गया है। नायक-नायिका निरूपण भी मुख्तः तीन रूपों में मिलता है- प्रथम रूप में नायक कृष्ण और नायिका राधा है। इनका चित्रण करते हुए धार्मिक और दार्शनिक विचार को ध्यान में रखा गया है। इसलिए इसमें गूढ़ार्थ व्यंजना प्रधान है, और आध्यात्मिक रहस्य तथा धर्म-मर्म निहित है, द्वितीय रूप में राधा और कृष्ण का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया किंतु उनके आभास की प्रदीप्ति दी गई है और कल्पनादर्श रूप रौचिर्य रचकर आदर्श चित्र विचित्र व्यंजना के साथ प्रस्तुत किए गए हैं। इससे इसमें लौकिक वासना का विलास नहीं मिलता। तृतीय रूप में लोकसंभव नायक नायिका का स्पष्ट चित्र है। इसमें भी कल्पना कला कौशल और कवि परंपरागत आदर्शों का पुट पूर्ण रूप में प्राप्त होता है। नितांत लौकिक रूप बहुत ही न्यून और बहुत ही कम है।

'सतसई' के मुक्तक दोहों को क्रमबद्ध करने के प्रयास किए गए हैं। 25 प्रकार के क्रम कहे जाते हैं जिनमें से 14 प्रकार के क्रम देखे गए हैं, शेष 11 प्रकार के क्रम जिन टीकाओं में हैं, वे प्राप्त नहीं। किंतु कोई निश्चित क्रम नहीं दिया जा सका। वस्तुतः बात यह जान पड़ती है कि ये दोहे समय-समय पर मुक्तक रूप में ही रचे गए, फिर चुन चुनकर एकत्रित कर संकलित कर दिए गए। केवल मंगलाचरणात्मक दोहों के विषय में भी इसी से विचार वैचित्य है। यदि 'मेरी भव बाधा हरौ' इस दोहे को प्रथम मंगलाचरणात्मक अर्थात् केवल राधोपासक होने का विचार स्पष्ट होता है और यदि 'मोर मुकुट कटि काछिनिश-इस दोहे को लें, तो केवल एक विशेष बानकवाली कृष्णमूर्ति ही बिहारी की अभीष्टोपास्य मूर्ति मुख्य ठहरती हैं - बिहारी वस्तुतः कृष्णोपासक थे, यह स्पष्ट है।

सतसई के देखने से स्पष्ट होता है कि बिहारी के लिए काव्य में रस और अलंकार चातुर्य चमत्कार तथा कथन कौशल दोनों ही अनिवार्य और आवश्यक हैं। उनके दोहों को दो वर्गों में इस प्रकार भी रख सकते हैं, एक वर्ग में वे दोहे आएँगें जिनमें रस रौचिर्य का प्राबल्य है और रसात्मकता का ही विशेष ध्यान रखा गया है। अलंकार चमत्कार इनमें भी है, किंतु विशेष प्रधान नहीं, वरन् रस परिपोषकता और भावोत्कर्षकता के लिए ही सहायक रूप में यह है।

दूसरे वर्ग में वे दोहे हैं जिनमें रसात्मकता को विशेषता नहीं दी गई वरन् अलंकार चमत्कार और वचनचातुरी अथवा कथन-कलाकौशल को ही प्रधानता दी गई है। किसी विशेष अलंकार को उक्तिवैचिर्त्य के साथ सफलता से निबाहा गया है। इस प्रकार देखते हुए भी यह मानना पड़ता है कि अलंकार चमत्कार को कहीं नितांत भुलाया भी नहीं गया। रस को उत्कर्ष देते हुए भी अलंकार कौशल का अपकर्ष भी नहीं होने दिया गया। इस प्रकार कहना चाहिए कि बिहारी रसालंकारसिद्ध कवि थेय रससिद्ध ही नहीं।

नीति विषयक दोहों में वस्तुतः सरसता रखना कठिन होता है, उनमें उक्तिऔचित्य और वचनवक्रता के साथ चारु चातुर्य चमत्कार ही प्रभावोत्पादक और ध्यानाकर्षण में सहायक होता है। यह बात नीतिपरक दोहों में स्पष्ट रूप से मिलती है। फिर भी बिहारी ने इनमें सरसता का सराहनीय प्रयास किया है।

ऐसी ही बात दार्शनिक सिद्धांतों और धार्मिक भाव मर्मों के भी प्रस्तुत करने में आती है क्योंकि उनमें अपनी विरसता स्वभावतः रहती है। फिर भी बिहारी ने उन्हें सरसता के साथ प्रस्तुत करने में सफलता पाई है।

भक्ति के हार्दिक भाव बहुत ही कम दोहों में दिखाई पड़ते हैं। समयावस्था विशेष में बिहारी के भावुक हृदय में भक्तिभावना का उदय हुआ और उसकी अभिव्यक्ति भी हुई। बिहारी में दैन्य भाव का प्राधान्य नहीं, वे प्रभु प्रार्थना करते हैं, किंतु अति हीन होकर नहीं। प्रभु की इच्छा को ही मुख्य मानकर विनय करते हैं।

बिहारी ने अपने पूर्ववर्ती सिद्ध कविवरों की मुक्तक रचनाओं, जैसे आर्यासप्तशती, गाथासप्तशती, अमरुकशतक आदि से मूलभाव लिए हैं- कहीं उन भावों को काट छाँटकर सुंदर रूप दिया है, कहीं कुछ उन्नत किया है और कहीं ज्यों-का-त्यों ही सा रखा है। सौंदर्य यह है कि दीर्घ भावों को संक्षिप्त रूप में रम्यता के साथ अपनी छाप छोड़ते हुए रखने का सफल प्रयास किया गया है।

टीकाएँ

'सतसई' पर अनेक कवियों और लेखकों ने टीकाएँ लिखीं। कुल 54 टीकाएँ मुख्य रूप से प्राप्त हुई हैं। रत्नाकर जी की बिहारी रत्नाकर नामक एक अंतिम टीका है, यह सर्वांग सुंदर है। सतसई के अनुवाद भी संस्कृत, उर्दू (फारसी) आदि में हुए हैं और कतिपय कवियों ने सतसई के दोहों को स्पष्ट करते हुए कुंडलिया आदि छंदों के द्वारा विशिष्टीकृत किया है। अन्य पूर्वापरवर्ती कवियों के साथ भावसाम्य भी प्रकट किया गया है। कुछ टीकाएँ फारसी और संस्कृत में लिखी गई हैं। टीकाकारों ने सतसई में दोहों के क्रम भी अपने अपने विचार से रखे हैं। साथ ही दोहों की संख्या भी न्यूनाधिक दी है। यह नितांत निश्चित नहीं कि कुल कितने दोहे रचे गए थे। संभव है, जो सतसई में आए वे चुनकर आए कुल दोहे 700 से कहीं अधिक रचे गए होंगे। सारे जीवन में बिहारी ने इतने ही दोहे रचे हों, यह सर्वथा मान्य नहीं ठहरता।

'सतसई' पर कतिपय आलोचकों ने अपनी आलोचनाएँ लिखी हैं। रीति काव्य से ही इसकी आलोचना चलती आ रही है। प्रथम कवियों ने सतसई की मार्मिक विशेषता को सांकेतिक रूप से सूचित करते हुए दोहे और छंद लिखे। उर्दू के शायरों ने भी इसी प्रकार किया। यथा–

सतसइया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत मैं छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

बिहारी की बलागत और ब्रजभाषा की शीरीनी हमें तारीफ करने के लिए मजबूर करती है।

इस प्रकार की कितनी ही उक्तियाँ प्रचलित हैं। विस्तृत रूप में सतसई पर आलोचनात्मक पुस्तकें भी इधर कई लिखी गई हैं। साथ ही आधुनिक काल में इसकी कई टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। इनकी तुलना विशेष रूप से कविवर देव से की गई और एक ओर देव को, दूसरी ओर बिहारी को बढ़कर सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। दो पुस्तकें, 'देव और बिहारी' पं. कृष्णबिहारी मिश्र लिखित तथा 'बिहारी और देव' लाला भगवानदीन लिखित उल्लेखनीय हैं। रत्नाकर जी के द्वारा संपादित 'बिहारी रत्नाकर' नामक टीका और 'कविवर बिहारी' नामक आलोचनात्मक विवेचन विशेष रूप में अवलोकनीय और प्रामाणिक हैं।

काव्यगत विशेषताएं

वर्ण्य विषय

बिहारी की कविता का मुख्य विषय श्रृंगार है। उन्होंने श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का वर्णन किया है। संयोग पक्ष में बिहारी ने हावभाव और अनुभवों का बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण किया हैं। उसमें बड़ी मार्मिकता है। संयोग का एक उदाहरण देखिए –

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सोह करे, भौंहनु हंसे दैन कहे, नटि जाय॥

बिहारी का वियोग वर्णन बड़ा अतिशयोक्ति पूर्ण है। यही कारण है कि उसमें स्वाभाविकता नहीं है, विरह में व्याकुल नायिका की दुर्बलता का चित्रण करते हुए उसे घड़ी के पेंडुलम जैसा बना दिया गया है –

इति आवत चली जात उत, चली, छसातक हाथ।
चढी हिंडोरे सी रहे, लगी उसासनु साथ॥

सूफी कवियों की अहात्मक पद्धति का भी बिहारी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वियोग की आग से नायिका का शरीर इतना गर्म है कि उस पर डाला गया गुलाब जल बीच में ही सूख जाता है –

औंधाई सीसी सुलखि, बिरह विथा विलसात।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छीटों छुयो न गात॥

भक्ति-भावना

बिहारी मूलतः शृंगारी कवि हैं। उनकी भक्ति-भावना राधा-कृष्ण के प्रति है और वह जहां-तहां ही प्रकट हुई है। सतसई के आरंभ में मंगला-चरण का यह दोहा राधा के प्रति उनके भक्ति-भाव का ही परिचायक है -

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाई परे, स्याम हरित दुति होय॥

बिहारी ने नीति और ज्ञान के भी दोहे लिखे हैं, किंतु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। धन-संग्रह के संबंध में एक दोहा देखिए -

मति न नीति गलीत यह, जो धन धरिये जोर।
खाये खर्चे जो बचे तो जोरिये करोर॥

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति-चित्रण में बिहारी किसी से पीछे नहीं रहे हैं। षट ऋतुओं का उन्होंने बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है। ग्रीष्म ऋतु का चित्र देखिए -

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोतवन सो कियो, दारिग दाघ निदाघ॥

बिहारी गाव वालो कि अरसिक्त का उपहास करते हुए कहते हैं-

कर फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि।
रे गंधी मतिअंध तू इत्र दिखावत काहि॥

बहुज्ञता

बिहारी को ज्योतिष, वैद्यक, गणित, विज्ञान आदि विविध विषयों का बड़ा ज्ञान था। अतः उन्होंने अपने दोहों में उसका खूब उपयोग किया है। गणित संबंधी तथ्य से परिपूर्ण यह दोहा देखिए -

कहत सवै वेदीं दिये आंगु दस गुनो होतु।
तिय लिलार बेंदी दियैं अगिनतु बढ़त उदोतु॥

भाषा

बिहारी की भाषा साहित्यिक ब्रज भाषा है। इसमें सूर की चलती ब्रज भाषा का विकसित रूप मिलता है। पूर्वी हिंदी, बुंदेलखंडी, उर्दू, फारसै आदि के शब्द भी उसमें आए हैं, किंतु वे लटकते नहीं हैं। बिहारी का शब्द चयन बड़ा सुंदर और सार्थक है। शब्दों का प्रयोग भावों के अनुकूल ही हुआ है और उनमें एक

भी शब्द भारती का प्रतीत नहीं होता। बिहारी ने अपनी भाषा में कहीं-कहीं मुहावरों का भी सुंदर प्रयोग किया है। जैसे -

मूड चढाऐऊ रहै फरयौ पीठि कच-भारु।
रहै गिरैं परि, राखिबौ तऊ हियैं पर हारु॥

शैली

विषय के अनुसार बिहारी की शैली तीन प्रकार की है

1. माधुर्य पूर्ण व्यंजना प्रधानशैली - श्रृंगार के दोहों में।
2. प्रसादगुण से युक्त सरस शैली - भक्ति तथा नीति के दोहों में।
3. चमत्कार पूर्ण शैली - दर्शन, ज्योतिष, गणित आदि विषयक दोहों में।

रस

बिहारी के काव्य में शांत, हास्य, करुण आदि रसों के भी उदाहरण मिल जाते हैं, किंतु मुख्य रस श्रृंगार ही है।

छंद

बिहारी ने केवल दो ही छंद अपनाए हैं, दोहा और सोरठा। दोहा छंद की प्रधानता है। बिहारी के दोहे समास-शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं। दोहे जैसे छोटे छंद में कई-कई भाव भर देना बिहारी जैसे कवि का ही काम था।

अलंकार

अलंकारों की कारीगरी दिखाने में बिहारी बड़े पटु हैं। उनके प्रत्येक दोहे में कोई न कोई अलंकार अवश्य आ गया है। किसी-किसी दोहे में तो एक साथ कई-कई अलंकारों को स्थान मिला है। अतिशयोक्ति, अन्योक्ति और सांगरूपक बिहारी के विशेष प्रिय अलंकार हैं अन्योक्ति अलंकार का एक उदाहरण देखिए–

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखु विहंग विचारि।
बाज पराये पानि पर तू पच्छीनु न मारि॥

एवं

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरी सोइ।
जा तन की झाई पारे, श्यामु-हरित-दुति होइ॥

साहित्य में स्थान

किसी कवि का यश उसके द्वारा रचित ग्रंथों के परिमाण पर नहीं, गुण पर निर्भर होता है। बिहारी के साथ भी यही बात है। अकेले सतसई ग्रंथ ने उन्हें हिंदी साहित्य में अमर कर दिया। शृंगार रस के ग्रंथों में बिहारी सतसई के समान ख्याति किसी को नहीं मिली। इस ग्रंथ की अनेक टीकाएं हुई और अनेक कवियों ने इसके दोहों को आधार बना कर कवित्त, छप्पय, सवैया आदि छंदों की रचना की। बिहारी सतसई आज भी रसिक जनों का काव्य-हार बनी हुई है।

कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति के कारण सतसई के दोहे गागर में सागर भरे जाने की उक्ति चरितार्थ करते हैं। उनके विषय में ठीक ही कहा गया है–

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर।

अपने काव्य गुणों के कारण ही बिहारी महाकाव्य की रचना न करने पर भी महाकवियों की श्रेणी में गिने जाते हैं। उनके संबंध में स्वर्गीय राधाकृष्णदास जी की यह संपत्ति बड़ी सार्थक है -

यदि सूर सूर हैं, तुलसी शशी और उडगन केशवदास हैं तो बिहारी उस पीयूष वर्षी मेघ के समान हैं जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आछन्न हो जाता है।

सूरदास

सूरदास हिन्दी के भक्तिकाल के महान कवि थे। हिन्दी साहित्य में भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक और ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि महात्मा सूरदास हिंदी साहित्य के ख्सूर्य, माने जाते हैं। सूरदास जन्म से अंधे थे या नहीं, इस सम्बम्ध में विद्वानों में मतभेद है।

जीवन परिचय

सूरदास का जन्म 1540 ई. में रुनकता नामक गाँव में हुआ। यह गाँव मथुरा-आगरा मार्ग के किनारे स्थित है। कुछ विद्वानों का मत है कि सूर का जन्म सीही नामक ग्राम में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह बहुत विद्वान थे, उनकी लोग आज भी चर्चा करते हैं। मथुरा के बीच गऊघाट पर आकर रहने लगे थे। सूरदास के पिता, रामदास गायक थे। सूरदास के जन्मांध

होने के विषय में मतभेद है। प्रारंभ में सूरदास आगरा के समीप गऊघाट पर रहते थे। वहीं उनकी भेंट श्री वल्लभाचार्य से हुई और वे उनके शिष्य बन गए। वल्लभाचार्य ने उनको पुष्टिमार्ग में दीक्षित कर के कृष्णलीला के पद गाने का आदेश दिया। सूरदास की मृत्यु गोवर्धन के निकट पारसौली ग्राम में 1580 ईस्वी में हुई।

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में मतभेद

सूरदास की जन्मतिथि एवं जन्मस्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'साहित्य लहरी' सूर की लिखी रचना मानी जाती है। इसमें साहित्य लहरी के रचना-काल के सम्बन्ध में निम्न पद मिलता है –

मुनि पुनि के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत् पेख।

इसका अर्थ संवत् 1607 ईस्वी में माना गया है, अतएव 'साहित्य लहरी' का रचना काल संवत् 1607 ई. है। इस ग्रन्थ से यह भी प्रमाण मिलता है कि सूर के गुरु श्री वल्लभाचार्य थे।

सूरदास का जन्म 1540 ईस्वी के लगभग ठहरता है, क्योंकि बल्लभ सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि बल्लभाचार्य सूरदास से दस दिन बड़े थे और बल्लभाचार्य का जन्म उक्त संवत् की वैशाख् कृष्ण एकादशी को हुआ था। इसलिए सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ला पंचमी, संवत् 1535 वि0 समीचीन जान पड़ती है। अनेक प्रमाणों के आधार पर उनका मृत्यु संवत् 1620 से 1648 ईस्वी के मध्य स्वीकार किया जाता है। रामचन्द्र शुक्ल जी के मतानुसार सूरदास का जन्म संवत् 1540 वि. के सन्निकट और मृत्यु संवत् 1620 ईस्वी के आसपास माना जाता है।

श्री गुरु बल्लभ तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।

सूरदास की आयु 'सूरसारावली' के अनुसार उस समय 67 वर्ष थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के आधार पर उनका जन्म रुनकता अथवा रेणु का क्षेत्र (वर्तमान जिला आगरान्तर्गत) में हुआ था। मथुरा और आगरा के बीच गऊघाट पर ये निवास करते थे। बल्लभाचार्य से इनकी भेंट वहीं पर हुई थी। 'भावप्रकाश' में सूर का जन्म स्थान सीही नामक ग्राम बताया गया है। वे सारस्वत ब्राह्मण थे और जन्म के अंधे थे। 'आइने अकबरी' में (संवत् 1653 ईस्वी) तथा 'मुतखबुत-तवारीख' के अनुसार सूरदास को अकबर के दरबारी संगीतज्ञों में माना है।

क्या सूरदास जन्मान्ध थे?

सूरदास श्रीनाथ की 'संस्कृतवार्ता मणिपाला', श्री हरिराय कृत 'भाव-प्रकाश', श्री गोकुलनाथ की 'निजवार्ता' आदि ग्रन्थों के आधार पर, जन्म के अन्धे माने गए हैं। लेकिन राधा-कृष्ण के रूप सौन्दर्य का सजीव चित्रण, नाना रंगों का वर्णन, सूक्ष्म पर्यवेक्षणशीलता आदि गुणों के कारण अधिकतर वर्तमान विद्वान सूर को जन्मान्ध स्वीकार नहीं करते।

श्यामसुन्दर दास ने इस सम्बन्ध में लिखा है - 'सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग-रुपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता।' डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी, ने लिखा है - 'सूरसागर के कुछ पदों से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि सूरदास अपने को जन्म का अन्धा और कर्म का अभागा कहते हैं, पर सब समय इसके अक्षरार्थ को ही प्रधान नहीं मानना चाहिए।'

रचनाएँ

सूरदास जी द्वारा लिखित पाँच ग्रन्थ बताए जाते हैं–

(1) सूरसागर - जो सूरदास की प्रसिद्ध रचना है। जिसमें सवा लाख पद संग्रहित थे। किंतु अब सात-आठ हजार पद ही मिलते हैं।

(2) सूरसारावली

(3) साहित्य-लहरी - जिसमें उनके कूट पद संकलित हैं।

(4) नल-दमयन्ती

(5) ब्याहलो।

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों की विवरण तालिका में सूरदास के 16 ग्रन्थों का उल्लेख है। इनमें सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य लहरी, नल-दमयन्ती, ब्याहलो के अतिरिक्त दशमस्कंध टीका, नागलीला, भागवत, गोवर्धन लीला, सूरपचीसी, सूरसागर सार, प्राणप्यारी, आदि ग्रन्थ सम्मिलित हैं। इनमें प्रारम्भ के तीन ग्रंथ ही महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं, साहित्य लहरी की प्राप्त प्रति में बहुत प्रक्षिप्तांश जुड़े हुए हैं।

साहित्य लहरी, सूरसागर, सूर की सारावली।
श्रीकृष्ण जी की बाल-छवि पर लेखनी अनुपम चली।।

सूरसागर का मुख्य वर्ण्य विषय श्री कृष्ण की लीलाओं का गान रहा है।

सूरसारावली में कवि ने जिन कृष्ण विषयक कथात्मक और सेवा परक पदों का गान किया, उन्हीं के सार रूप में उन्होंने सारावली की रचना की है।

सहित्यलहरी में सूर के दृष्टिकूट पद संकलित हैं।

सूरदास की काव्यगत विशेषताएँ

1. सूरदास के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण के अनुग्रह से मनुष्य को सद्गति मिल सकती है। अटल भक्ति कर्मभेद, जातिभेद, ज्ञान, योग से श्रेष्ठ है।
2. सूर ने वात्सल्य, श्रृंगार और शांत रसों को मुख्य रूप से अपनाया है। सूर ने अपनी कल्पना और प्रतिभा के सहारे कृष्ण के बाल्य-रूप का अति सुंदर, सरस, सजीव और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। बालकों की चपलता, स्पर्धा, अभिलाषा, आकांक्षा का वर्णन करने में विश्व व्यापी बाल-स्वरूप का चित्रण किया है। बाल-कृष्ण की एक-एक चेष्टा के चित्रण में कवि ने कमाल की होशियारी एवं सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है।

मैया कबहिं बढैगी चौटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।

सूर के कृष्ण प्रेम और माधुर्य प्रतिमूर्ति है, जिसकी अभिव्यक्ति बड़ी ही स्वाभाविक और सजीव रूप में हुई है।

3. जो कोमलकांत पदावली, भावानुकूल शब्द-चयन, सार्थक अलंकार-योजना, धारावाही प्रवाह, संगीतात्मकता एवं सजीवता सूर की भाषा में है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ता है कि सूर ने ही सर्वप्रथम ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया है।
4. सूर ने भक्ति के साथ श्रृंगार को जोड़कर उसके संयोग-वियोग पक्षों का जैसा वर्णन किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।
5. सूर ने विनय के पद भी रचे हैं, जिसमें उनकी दास्य-भावना कहीं-कहीं तुलसीदास से आगे बढ़ जाती है-

हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ।
समदरसी है मान तुम्हारौ, सोई पार करौ।

6. सूर ने स्थान-स्थान पर कूट पद भी लिखे हैं।
7. प्रेम के स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया है यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय

राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह इस प्रेम के योग्य है–

8. सूर ने यशोदा आदि के शील, गुण आदि का सुंदर चित्रण किया है।
9. सूर का भ्रमरगीत वियोग-शृंगार का ही उत्कृष्ट ग्रंथ नहीं है, उसमें सगुण और निर्गुण का भी विवेचन हुआ है। इसमें विशेषकर उद्धव-गोपी संवादों में हास्य-व्यंग्य के अच्छे छींटें भी मिलते हैं।
10. सूर काव्य में प्रकृति-सौंदर्य का सूक्ष्म और सजीव वर्णन मिलता है।
11. सूर की कविता में पुराने आख्यानों और कथनों का उल्लेख बहुत स्थानों में मिलता है।
12. सूर के गाये पदों में हृदयस्थ भावों की बड़ी सुंदर व्यजना हुई है। उनके कृष्ण-लीला संबंधी पदों में सूर के भक्त और कवि हृदय की सुंदर झाँकी मिलती है।
13. सूर का काव्य भाव-पक्ष की दृष्टि से ही महान नहीं है, कला-पक्ष की दृष्टि से भी वह उतना ही महत्वपूर्ण है। सूर की भाषा सरल, स्वाभाविक तथा वाग्वैदिग्धपूर्ण है। अलंकार-योजना की दृष्टि से भी उनका कला-पक्ष सबल है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूर की कवित्व-शक्ति के बारे में लिखा है-

सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास हिंदी साहित्य के महाकवि हैं, क्योंकि उन्होंने न केवल भाव और भाषा की दृष्टि से साहित्य को सुसज्जित किया, वरन् कृष्ण-काव्य की विशिष्ट परंपरा को भी जन्म दिया।

4

श्यामसुन्दर दास

डॉ. श्यामसुंदर दास (सन् 1875 - 1945 ई.) हिंदी के अनन्य साधक, विद्वान, आलोचक और शिक्षाविद् थे। हिंदी साहित्य और बौद्धिकता के पथ-प्रदर्शकों में उनका नाम अविस्मरणीय है। हिंदी-क्षेत्र के साहित्यिक-सांस्कृतिक नवजागरण में उनका योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने और उनके साथियों ने मिलकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की।

विश्वविद्यालयों में हिंदी की पढ़ाई के लिए अगर बाबू साहब के नाम से मशहूर श्याम सुंदर दास ने पुस्तकें तैयार न की होतीं तो शायद हिंदी का अध्ययन-अध्यापन आज सबके लिए इस तरह सुलभ न होता। उनके द्वारा की गयी हिंदी साहित्य की पचास वर्षों तक निरंतर सेवा के कारण कोश, इतिहास, भाषा-विज्ञान, साहित्यालोचन, सम्पादित ग्रंथ, पाठ्य-सामग्री निर्माण आदि से हिंदी-जगत समृद्ध हुआ। उन्हीं के अविस्मरणीय कामों ने हिंदी को उच्चस्तर पर प्रतिष्ठित करते हुए विश्वविद्यालयों में गौरवपूर्वक स्थापित किया।

बाबू श्याम सुंदर दास ने अपने जीवन के पचास वर्ष हिंदी की सेवा करते हुए व्यतीत किए उनकी इस हिंदी सेवा को ध्यान में रखते हुए ही राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त ने निम्न पंक्तियाँ लिखी हैं-

मातृभाषा के हुए जो विगत वर्ष पचास।
नाम उनका एक ही है श्याम सुंदरदास॥

डॉ. राधा कृष्णन के शब्दों में, बाबू श्याम सुंदर अपनी विद्वत्ता का वह आदर्श छोड़ गए हैं, जो हिंदी के विद्वानों की वर्तमान पीढ़ी को उन्नति करने की प्रेरणा देता रहेगा।

जीवनी एवं हिन्दी-सेवा

बाबू श्यामसुंदरदास का जन्म विद्वानों की काशी में 14 जुलाई 1875 को हुआ था। इनका परिवार लाहौर से आकर काशी में बस गया था और कपड़े का व्यापार करता था। इनके पिता का नाम लाला देवीदास खत्री था। बनारस के क्वींस कालेज से अँगरेजी में 1897 में बी. ए. किया। जब इंटर के छात्र थे तभी सन् 1893 में मित्रों रामनारायण मिश्र और शिवकुमार सिंह के सहयोग से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की नींव डाली और 45 वर्षों तक निरंतर उसके संवर्धन में बहुमूल्य योग देते रहे। 1896 में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' निकलने पर उसके प्रथम संपादक नियुक्त हुए और बाद में कई बार वर्षों तक उसका संपादन किया। 'सरस्वती' के भी आरंभिक तीन वर्षों (1900 से 1902) तक संपादक रहे। 1899 में हिंदू स्कूल के अध्यापक नियुक्त हुए और कुछ दिनों बाद हिंदू कालेज में अंग्रेजी के जूनियर प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1909 में जम्मू महाराज के स्टेट आफिस में काम करने लगे जहाँ दो वर्ष रहे। 1913 से 1921 तक लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल में हेडमास्टर रहे। इनके उद्योग से विद्यालय की अच्छी उन्नति हुई। 1921 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग खुल जाने पर इन्हें अध्यक्ष के रूप में बुलाया गया। पाठ्यक्रम के निर्धारण से लेकर हिंदी भाषा और साहित्य की विश्वविद्यालयस्तरीय शिक्षा के मार्ग की अनेक बाधाओं को हटाकर योग्यतापूर्वक हिंदी विभाग का संचालन और संवर्धन किया। इस प्रकार इन्हें हिंदी की उच्च शिक्षा के प्रवर्तन और आयोजन का श्रेय है। उस समय विश्वविद्यालय स्तर की पाठ्य पुस्तकों और अलोचना ग्रंथों का अभाव था। इन्होंने स्वयं अपेक्षित ग्रंथों का संपादन किया, समीक्षाग्रंथ लिखे और अपने सुविज्ञ सहयोगियों से लिखवाए।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के माध्यम से श्री श्यामसुंदरदास ने हिंदी की बहुमुखी सेवा की और ऐसे महत्वपूर्ण कार्यों का सूत्रपात एवं संचालन किया जिनसे हिंदी की अभूतपूर्व उन्नति हुई। न्यायालयों में नागरी के प्रवेश के लिए मालवीय जी आदि की सहायता में उन्होंने सफल उद्योग किया। हिंदी वैज्ञानिक कोश के निर्माण में भी योग दिया। हिंदी की लेख तथा लिपि प्रणाली के संस्कार

के लिए आरंभिक प्रयत्न (1898) किया। हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज का काम आरंभ कर इन्होंने उसे नौ वर्षों तक चलाया और उसकी सात रिपोर्टें लिखीं। 'हिंदी शब्दसागर' के ये प्रधान संपादक थे। यह विशाल शब्दकोश इनके अप्रतिम बुद्धिबल और कार्यक्षमता का प्रमाण है। 1907 से 1929 तक अत्यंत निष्ठा से इन्होंने इसका संपादन और कार्यसंचालन किया। इस कोश के प्रकाशन के अवसर पर इनकी सेवाओं को मान्यता देने के निमित्त 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' के रूप में इन्हें अभिनंदन ग्रंथ अर्पित किया गया।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अध्यापनकार्य के समय उच्च अध्ययन में उपयोग के लिए इन्होंने भाषाविज्ञान, आलोचना शास्त्र और हिंदी भाषा तथा साहित्य के विकास क्रम पर श्रेष्ठ ग्रंथ लिखे।

श्यामसुंदरदास का व्यक्तित्त्व तेजस्वी और जीवन हिंदी की सेवा के लिए अर्पित था। जिस जमाने में उन्होंने कार्य शुरु किया उस समय का वातावरण हिंदी के लिए अत्यंत प्रतिकूल था। सरकारी कामकाज और शिक्षा आदि के क्षेत्रों में वह उपेक्षित थीं। हिंदी बोलनेवाला अशिक्षित समझा जाता था। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में हिंदी के प्रचार प्रसार और संवर्धन के लिए उन्होंने कशी नागरीप्रचारिणी सभा को केंद्र बनाकर जो अभूतपूर्व संबंद्ध प्रयत्न किया उसका ऐतिहासिक महत्व है। ये उच्च कोटि के संगठनकर्ता और व्यवस्थापक थे। समर्थ मित्रों के सहयोग और अपने बुद्धिबल तथा कर्मठता से उन्होंने हिंदी की उन्नति के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का डटकर सामना किया और सफलता प्राप्त की। उनकी दृष्टि व्यक्तियों की क्षमता पहचानने में अचूक थी। उन्होंने अनेक व्यक्तियों को प्रोत्साहित कर साहित्य के क्षेत्र में ला खड़ा किया। इसीलिए कहा गया है कि उन्होंने 'ग्रंथों की ही नहीं, ग्रंथकारों की भी रचना की'।

उनकी हिंदीसेवाओं से प्रसन्न होकर अंग्रेज सरकार ने 'रायबहादुर', हिंदी साहित्य सम्मेलन ने 'साहित्यवाचस्पति' और काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने डी. लिट्. की सम्मानोपाधि प्रदान की।

ग्रंथ-रचना

बाबू श्याम सुंदर दास ने अनेक ग्रंथों की रचना की। उन्होंने लगभग सौ ग्रंथों का संपादन किया। उन्हें अप्रकाशित पुस्तकों की खोज करके प्रकाशित कराने का शौक था। उनके मौलिक ग्रंथों में साहित्यालोचन, भाषा विज्ञान, हिंदी भाषा का विकास, गोस्वामी तुलसी दास, रूपक रहस्य आदि प्रमुख हैं।

इन्होंने परिचयात्मक और आलोचनात्मक ग्रंथ लिखने के साथ ही कई दर्जन पुस्तकों का संपादन किया। पाठ्यपुस्तकों के रूप में इन्होंने कई दर्जन सुसंपादित संग्रह ग्रंथ प्रकाशित कराए। इनकी प्रमुख पुस्तकें हैं – हिंदी कोविद रत्नमाला भाग 1, 2 (1909–1914), साहित्यालोचन (1922), भाषाविज्ञान (1923), हिंदी भाषा और साहित्य (1930) रूपकहस्य (1931), भाषारहस्य भाग 1 (1935), हिंदी के निर्माता भाग 1 और 2 (1940–41), मेरी आत्मकहानी (1941), कबीर ग्रंथावली (1928), साहित्यिक लेख (1945)।

श्याम सुंदर दास ने अपना पूरा जीवन हिंदी–सेवा को समर्पित कर दिया। उनके इस तप–यज्ञ से अनेक पुस्तकें साहित्य को प्राप्त हुई—जैसे नागरी वर्णमाला (1896), हिंदी कोविद रत्नमाला (भाग 1 और 2) (1900), हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों का वार्षिक खोज विवरण (1900–05), हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (1906–08), साहित्य लोचन (1922), भाषा–विज्ञान (1929), हिंदी भाषा का विकास (1924), हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण (1933), गद्य कुसुमावली (1925), भारतेंदु हरिश्चंद्र (1927), हिंदी भाषा और साहित्य (1930), गोस्वामी तुलसीदास (1931), रूपक रहस्य (1913), भाषा रहस्य (भाग–1, 1935), हिंदी गद्य के निर्माता (भाग 1 और 2) (1940) और आत्मकथा मेरी आत्म कहानी (1941)।

श्याम सुंदर दास ने सम्पादन के क्षेत्र में तो अद्भुत, अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया—जैसे, नासिकेतोपाख्यान अर्थावली (1901), छत्रप्रकाश (1903), रामचरितमानस (1904), पृथ्वीराज रासो (1904), हिंदी वैज्ञानिक कोष (1906), वनिता विनोद (1906), इंद्रावती (भाग–1, 1906), हम्मीर रासो (1908), शकुंतला नाटक (1908), प्रथम हिंदी साहित्य सम्मेलन की लेखावली (1911), बाल विनोद (1913), हिंदी शब्द सागर (खण्ड– 1 से 4 तक, 1916), मेघदूत (1920), दीनदयाल गिरि ग्रंथावली (1921), परमाल रासो (1921), अशोक की धर्मलिपियाँ (1923), रानीखेत की कहानी (1925), भारतेंदु नाटकावली (1924), कबीर ग्रंथावली (1928), राधाकृष्ण ग्रंथावली (1930), द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ (1933), रत्नाकर (1933), सतसई सप्तक (1933), बाल शब्द सागर (1935), त्रिधारा (1935), नागरी प्रचारिणी पत्रिका (1 से 18 तक), मनोरंजन पुस्तक माला (1 से 50 तक), सरस्वती (1900 तक)।

बाबू श्याम सुंदर दास ने इतना काम हिंदी साहित्य के लिए किया है कि वे एक व्यक्ति से ज़्यादा संस्था बन गये। उन्होंने मानस सूक्तावली (1920), संक्षिप्त रामायण (1920), हिन्दी निबंधमाला (भाग-1/2, 1922), संक्षिप्त पद्‌मावली (1927) और हिंदी निबंध रत्नावली (1941) का सम्पादन भी किया।

विद्यार्थियों के लिए उन्होंने उच्चस्तरीय पाठ्‌य पुस्तकें तैयार कीं। इस तरह की पाठ्‌य पुस्तकों में भाषा सार संग्रह (1902), भाषा पत्रबोध (1902), प्राचीन लेखमाला (1903), हिंदी पत्र-लेखन (1904), आलोक चित्रण (1902), हिंदी प्राइमर (1905), हिंदी की पहली पुस्तक (1905), हिंदी ग्रामर (1906), हिंदी संग्रह (1908), गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया (1908), बालक विनोद (1908), नूतन-संग्रह (1919), अनुलेख माला (1919), हिंदी रीडर (भाग-6/7, 1923), हिंदी संग्रह (भाग-1/2, 1925), हिंदी कुसुम संग्रह (भाग-1/2, 1925), हिंदी कुसुमावली (1927), हिंदी-सुमन (भाग-1 से 4, 1927), हिंदी प्रोज सिलेक्शन (1927), गद्य रत्नावली (1931), साहित्य प्रदीप (1932), हिंदी गद्य कुसुमावली (1936), हिंदी प्रवेशिका पद्यावली (1939), हिंदी गद्य संग्रह (1945), साहित्यिक लेख (1945)।

श्याम सुंदर दास जीवन के अंतिम क्षण तक साहित्य-सेवा में सक्रिय रहे। स्वतंत्रता से ठीक पहले और बाद की हिंदी की पूरी पीढ़ी ही बाबूजी के कंधों पर बैठकर ही बढ़ी हुई।

समय-समय पर विभिन्न विषयों पर सम्मेलनों में दिये जाने वाले उनके वक्तव्यों की संख्या अनगिनत है। इस समस्त चिंतन पर दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे किस तरह हिंदी साहित्य को अनेक विषयों से जोड़कर आगे बढ़ाना चाहते थे। आज भी बाबूजी की बहुत बड़ी देन है– पाठ्‌य-सामग्री की प्रामाणिक रचना तथा अध्ययन के क्षेत्र का विवेक। विद्यार्थियों के लिए ताजा सामग्री लाने के उनके हर क्षण के प्रयास का नतीजा यह हुआ कि वे संग्रहकार बनते रहे। आलोचना की जाती है कि इसी कारण उनके लेखन में गहरायी और मौलिकता का अभाव होता गया। लेकिन देखने की बात यह है कि उनकी समन्वयवादी बुद्धि अनेक ज्ञान- क्षेत्रों की सामग्री-संग्रह में निमग्न रही। यहाँ तक कि व्यावहारिक-आलोचना में भी बाबूजी ने सामंजस्यवाद का सौंदर्य स्थापित किया। इसीलिए उनकी आलोचना में तुलना, ऐतिहासिक दृष्टि, व्याख्या, भाष्य आदि का प्रवेश होता गया। इस तरह हिंदी में व्यावहारिक-आलोचना का

आरम्भिक मार्ग भी उन्होंने तैयार किया। उनका यह कुशल नेतृत्व आगे चलकर हिंदी-भाषी क्षेत्र के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

वर्ण्य विषय

बाबू श्याम सुंदर दास ने विचारात्मक तथा भावात्मक दोनों ही एक प्रकार के निबंध लिखे हैं। उनके निबंधों के विषय में पर्याप्त विविधता है। उन्होंने बहुत से अछूते विषयों पर भी लेखनी चलाई। कवियों की खोज तथा इतिहास संबंधी निबंधों में उनकी प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

भाषा

बाबू श्याम सुंदर दास की भाषा शुद्ध साहित्यिक हिंदी है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है। भाषा के संबंध में उनका विचार था- 'जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तब उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाए और वे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों।' इसलिए जहाँ कहीं उन्होंने अपनी भाषा में 'उर्दू' के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है, वहाँ उनका उर्दूपन निकाल दिया है, कलम, कवायद, कानून आदि शब्दों के नीचे की बिंदी हटाकर और उनके उच्चारण बदल कर उन्होंने उनका प्रयोग लिया है। इसी प्रकार संस्कृत के शब्दों की क्लिष्टता दूर कर के उन्हें हिंदी में सरल ढंग से लिखा है- जैसे- कार्य के स्थान पर कार्य, अंजन के स्थान पर अंजन।

शब्द चयन के बारे में बाबू श्यामसुंदर दास का मत था- 'सबसे पहला स्थान शुद्ध हिंदी के शब्दों को, उसके पीछे संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्दों को, इसके पीछे फारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दों का और सबसे पीछे संस्कृत के अप्रचलित शब्दों को स्थान दिया जाए। फारसी आदि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्दों का प्रयोग कदापि न हो।

शैली

बाबू श्यामसुन्दर दास ने मुख्यत: दो प्रकार की शैलियों में लिखा है-

1. विचारात्मक शैली- विचारात्मक शैली में विचारात्मक निबंध लिखे गए हैं। इस शैली के वाक्य छोटे-छोटे तथा भावपूर्ण हैं। भाषा सबल, सरल और प्रवाहमयी है। उदाहरणार्थ-

गोपियो का स्नेह बढ़या है। ये कृष्ण के साथ रास लीला में संकलित होती हैं। अनेक उत्सव मनाती है। प्रेममयी गोपिकाओं का यह आचरण बड़ा ही रमणीय है। उसमें कहीं से अस्वाभाविकता नहीं आ सकी।

2. गवेषणात्मक शैली– गवेषणात्मक निबंधों में गवेषणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। इनमें वाक्य अपेक्षाकृत कुछ लंबे हैं। भाषा के तत्सम शब्दों की अधिकता है। विषय की गहनता तथा शुष्कता के कारण यह शैली में कुछ शुष्क और रहित है। इस प्रकार की शैली का एक उदाहरण देखिए–

यह जीवन–संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रति क्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

बाबू श्याम सुंदरदास की किसी प्रकार की शैली में अलंकारों की सजावट नहीं पाई जाती। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग तो नहीं के बराबर हुआ है। अपने विचारों को भली प्रकार समझाने के लिए बाबू श्याम सुन्दर दास ने एक ही बात को 'सारांश यह है' 'अथवा', 'जैसे' आदि शब्दों के साथ बार–बार दुहराया है।

साहित्य सेवा और स्थान

हिंदी साहित्य में बाबू श्याम सुंदर दास का स्थान उनके हिंदी प्रचारक और हिंदी उन्नायक के रूप में अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना की। अनेक ग्रंथों का संपादन किया। काशी नगरी–प्रचारिणी सभा की स्थापना में उनका प्रमुख हाथ था। उन्होंने अपने प्रयत्नों से हिंदी को विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं में स्थान दिलाया। काशी हिंदू विश्वविद्यालय में आने से पूर्व उन्होंने 1900 में हिंदी साहित्य की समृद्धि के लिए न्यायालयों में हिंदी के प्रवेश का आंदोलन चलाया। 1900 तक श्यामसुंदर दास ने ही सरस्वती पत्रिका का सम्पादन किया। उन्होने हस्तलिखित ग्रंथों की खोज की तथा हिंदी शब्दसागर का भी सम्पादन किया। 1902 में नागरी प्रचारिणी सभा के भवन का निर्माण भी उन्हीं की देखरेख में कराया गया। 1907 में उन्होंने हिंदी आर्य भाषा पुस्तकालय की स्थापना की, प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का सम्पादन किया और शिक्षा स्तर के अनुरूप पाठ्य पुस्तकों का निर्माण कार्य भी आरंभ किया।

रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का इतिहास में लिखा है– बाबू साहब ने बड़ा भारी काम लेखकों के लिए सामग्री प्रस्तुत करने का किया है। हिंदी पुस्तकों

की खोज के विधान द्वारा आपने साहित्य का इतिहास, कवियों के चरित्त और उन पर प्रबंध आदि लिखने का बहुत बड़ा मसाला इकट्ठा करके रख दिया। इसी प्रकार हिंदी के नये-पुराने लेखकों के जीवनवृत्त हिंदी कोविद रत्नमाला के दो भागों में संगृहीत किये हैं। शिक्षोपयोगी तीन पुस्तकों, भाषा विज्ञान, हिंदी भाषा और साहित्य तथा साहित्य लोचन, भी आपने लिखी या संकलित की है।

श्याम सुंदर दास न केवल संस्थान-निर्माता थे, बल्कि प्रबंध-कला में भी बेजोड़ थे। साहित्य के समस्त क्षेत्रों के अभावों को दूर करने के लिए उन्होंने संकल्पबद्ध होकर श्रम किया। भाषा तत्त्ववेत्ता के रूप में या सिद्धांतों के व्याख्याता रूप में उन्हीं की उपलब्धियों के कारण साहित्यालोचन हिंदी के विद्यार्थियों का बहुत समय तक कंठहार बना रहा। इनके मन में यह धारणा निर्भांत रही कि हिंदी की सैद्धांतिक समीक्षा का आधार संस्कृत और पश्चिमी आलोचना-सिद्धांतों को मिला कर और उन्हें एक खास सामंजस्य के साथ ही बनाया जाना चाहिए। श्याम सुंदर दास से पहले हिंदी और नागरी लिपि के लिए विशेष रूप से संकटपूर्ण समय था। प्रताप नारायण मिश्र ने कई स्थानों पर हिंदी के प्रचार के लिए सभाएँ स्थापित की थीं। ऐसी ही एक सभा 1884 में 'हिंदी उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्य भारत सभा' के नाम से प्रयाग में प्रतिष्ठित की गयी। सरकारी दफ़्तरों में नागरी के प्रवेश के लिए भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी कई बार उद्यम किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। इसके बावजूद प्रयत्न बराबर चलता रहा। अदालती भाषा उर्दू होने के कारण नवशिक्षितों में उर्दू पढ़ने वालों की संख्या अधिक थी, जिससे हिंदी पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य आगे नहीं बढ़ पाता था। इस साहित्य-संकट के अतिरिक्त नागरी का प्रवेश सरकारी दफ़्तरों में न होने से नागरी जानने वाली जनता के सामने घोर संकट था। इसी दौर में कुछ उत्साही छात्रों के उद्योग से, जिनमें बाबू श्याम सुंदर दास प्रमुख थे, 1893 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की गयी। यहाँ भी रामचंद्र शुक्ल का कथन याद रखना चाहिए कि, 'सच पूछिए तो इस सभा की सारी समृद्धि और कीर्ति बाबू श्याम सुंदर दास के त्याग और सतत परिश्रम का फल है। वे आदि से अंत तक इसके प्राणस्वरूप स्थित होकर बराबर इसे अनेक बड़े उद्योगों में तत्पर करते रहे। इसके प्रथम सभापति भारतेंदु के फुफेरे भाई राधाकृष्ण दास हुए।' नागरी प्रचार के आंदोलन ने हिंदी-प्रेमियों में नया उत्साह पैदा किया और बहुत से लोग साहित्य की श्रीवृद्धि में समर्पित भाव से लग गये।

5

रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल (4 अक्टूबर, 1884- 2 फरवरी, 1941) हिन्दी आलोचक, निबन्धकार, साहित्येतिहासकार, कोशकार, अनुवादक, कथाकार और कवि थे। उनके द्वारा लिखी गई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है हिन्दी साहित्य का इतिहास, जिसके द्वारा आज भी काल निर्धारण एवं पाठ्यक्रम निर्माण में सहायता ली जाती है। हिन्दी में पाठ आधारित वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ। हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में भी शुक्ल जी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाव, मनोविकार सम्बंधित मनोविश्लेषणात्मक निबंध उनके प्रमुख हस्ताक्षर हैं। शुक्ल जी ने इतिहास लेखन में रचनाकार के जीवन और पाठ को समान महत्त्व दिया। उन्होंने प्रासंगिकता के दृष्टिकोण से साहित्यिक प्रत्ययों एवं रस आदि की पुनर्व्याख्या की।

जीवन परिचय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सं. 1884 में बस्ती जिले के अगोना नामक गांव में हुआ था। पिता पं. चंद्रबली शुक्ल की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई तो समस्त परिवार वहीं आकर रहने लगा। जिस समय शुक्ल जी की अवस्था नौ वर्ष की थी, उनकी माता का देहान्त हो गया। मातृ सुख के अभाव के साथ-साथ विमाता से मिलने वाले दु:ख ने उनके व्यक्तित्त्व को अल्पायु में ही परिपक्व बना दिया।

अध्ययन के प्रति लग्नशीलता शुक्ल जी में बाल्यकाल से ही थी। किंतु इसके लिए उन्हें अनुकूल वातावरण न मिल सका। मिर्जापुर के लंदन मिशन स्कूल से 1901 में स्कूल फाइनल परीक्षा (थ) उत्तीर्ण की। उनके पिता की इच्छा थी कि शुक्ल जी कचहरी में जाकर दफ्तर का काम सीखें, किंतु शुक्ल जी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। पिता जी ने उन्हें वकालत पढ़ने के लिए इलाहाबाद भेजा पर उनकी रुचि वकालत में न होकर साहित्य में थी। अतः परिणाम यह हुआ कि वे उसमें अनुत्तीर्ण रहे। शुक्ल जी के पिताजी ने उन्हें नायब तहसीलदारी की जगह दिलाने का प्रयास किया, किंतु उनकी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण यह संभव न हो सका।

1903 से 1908 तक 'आनन्द कादम्बिनी' के सहायक संपादक का कार्य किया। 1904 से 1908 तक लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक रहे। इसी समय से उनके लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे और धीरे-धीरे उनकी विद्वता का यश चारों ओर फैल गया। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर 1908 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें हिन्दी शब्दसागर के सहायक संपादक का कार्य-भार सौंपा जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक पूरा किया। श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'शब्दसागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पं. रामचंद्र शुक्ल को प्राप्त है। वे नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भी संपादक रहे। 1919 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक नियुक्त हुए जहाँ बाबू श्याम सुंदर दास की मृत्यु के बाद 1937 से जीवन के अंतिम काल (1941) तक विभागाध्यक्ष का पद सुशोभित किया।'

2 फरवरी, सन् 1941 को हृदय की गति रुक जाने से शुक्ल जी का देहांत हो गया।

कृतियाँ

शुक्ल जी की कृतियाँ तीन प्रकार की हैं।

मौलिक कृतियाँ

तीन प्रकार की हैं—

आलोचनात्मक ग्रंथ—सूर, तुलसी, जायसी पर की गई आलोचनाएं, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद, रसमीमांसा आदि शुक्ल जी की आलोचनात्मक रचनाएं हैं।

निबन्धात्मक ग्रन्थ–उनके निबन्ध चिंतामणि नामक ग्रंथ के दो भागों में संग्रहीत हैं। चिंतामणि के निबन्धों के अतिरिक्त शुक्लजी ने कुछ अन्य निबन्ध भी लिखे हैं, जिनमें मित्रता, अध्ययन आदि निबन्ध सामान्य विषयों पर लिखे गये निबन्ध हैं। मित्रता निबन्ध जीवनोपयोगी विषय पर लिखा गया उच्चकोटि का निबन्ध है जिसमें शुक्लजी की लेखन शैली गत विशेषतायें झलकती हैं। क्रोध निबन्ध में उन्होंने सामाजिक जीवन में क्रोध का क्या महत्व है, क्रोधी की मानसिकता–जैसे समबन्धित पहलुओ का विश्लेषण किया है।

ऐतिहासिक ग्रन्थ–हिंदी साहित्य का इतिहास उनका अनूठा ऐतिहासिक ग्रंथ है।

अनूदित कृतियाँ

शुक्ल जी की अनूदित कृतियां कई हैं। 'शशांक' उनका बंगला से अनुवादित उपन्यास है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी से विश्वप्रपंच, आदर्श जीवन, मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, कल्पना का आनन्द आदि रचनाओं का अनुवाद किया।

सम्पादित कृतियाँ

सम्पादित ग्रन्थों में हिंदी शब्दसागर, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भ्रमरगीत सार, सूर, तुलसी जायसी ग्रंथावली उल्लेखनीय है।

वर्ण्य विषय

शुक्ल जी ने प्रायः साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक निबंध लिखे हैं। साहित्यिक निबंधों के 3 भाग किए जा सकते हैं –

सैद्धान्तिक आलोचनात्मक निबंध– 'कविता क्या है', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचिर्त्यवाद', आदि निबंध सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं। आलोचना के साथ–साथ अन्वेषण और गवेषणा करने की प्रवृत्ति भी शुक्ल जी में पर्याप्त मात्रा में है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

व्यावहारिक आलोचनात्मक निबंध– भारतेंदु हरिश्चंद्र, तुलसी का भक्ति मार्ग, मानस की धर्म भूमि आदि निबंध व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं।

मनोवैज्ञानिक निबंध– मनोवैज्ञानिक निबंधों में करुणा, श्रद्धा, भक्ति, लज्जा, ग्लानि, क्रोध, लोभ और प्रीति आदि भावों तथा मनोविकारों पर लिखे गए निबंध आते हैं। शुक्ल जी के ये मनोवैज्ञानिक निबंध सर्वथा मौलिक हैं। उनकी भांति किसी भी अन्य लेखक ने उपर्युक्त विषयों पर इतनी प्रौढ़ता के साथ नहीं लिखा। शुक्ल जी के निबंधों में उनकी अभिरुचि, विचारधारा अध्ययन आदि का पूरा–पूरा समावेश है। वे लोकादर्श के पक्के समर्थक थे। इस समर्थन की छाप उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलती है।

भाषा

शुक्ल जी के गद्य–साहित्य की भाषा खड़ी बोली है और उसके प्रायः दो रूप मिलते हैं –

क्लिष्ट और जटिल

गंभीर विषयों के वर्णन तथा आलोचनात्मक निबंधों के भाषा का क्लिष्ट रूप मिलता है। विषय की गंभीरता के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है। गंभीर विषयों को व्यक्त करने के लिए जिस संयम और शक्ति की आवश्यकता होती है, वह पूर्णतः विद्यमान है। अतः इस प्रकार को भाषा क्लिष्ट और जटिल होते हुए भी स्पष्ट है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है।

सरल और व्यावहारिक

भाषा का सरल और व्यवहारिक रूप शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंधों में मिलता है। इसमें हिंदी के प्रचलित शब्दों को ही अधिक ग्रहण किया गया है यथा स्थान उर्दू और अंग्रेजी के अतिप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भाषा को अधिक सरल और व्यावहारिक बनाने के लिए शुक्ल जी ने तड़क–भड़क अटकल–पच्चू आदि ग्रामीण बोलचाल के शब्दों को भी अपनाया है। तथा नौ दिन चले अढ़ाई कोस, जिसकी लाठी उसकी भैंस, पेट फूलना, काटों पर चलना आदि कहावतों व मुहावरों का भी प्रयोग निस्संकोच होकर किया है।

शुक्ल जी का दोनों प्रकार की भाषा पर पूर्ण अधिकार था। वह अत्यंत संभत, परिमार्जित, प्रौढ़ और व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण निर्दोष है। उसमें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं। शब्द मोतियों की भांति वाक्यों के सूत्र में गुंथे हुए हैं। एक भी शब्द निरर्थक नहीं, प्रत्येक शब्द का अपना पूर्ण महत्व है।

शैली

शुक्ल जी की शैली पर उनके व्यक्तित्त्व की पूरी-पूरी छाप है। यही कारण है कि प्रत्येक वाक्य पुकार कर कह देता है कि वह उनका है। सामान्य रूप से शुक्ल जी की शैली अत्यंत प्रौढ़ और मौलिक है। उसमें गागर में सागर पूर्ण रूप से विद्यमान है। शुक्ल जी की शैली के मुख्यतः तीन रूप हैं -

आलोचनात्मक शैली

शुक्ल जी ने अपने आलोचनात्मक निबंध इसी शैली में लिखे हैं। इस शैली की भाषा गंभीर है। उनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है। वाक्य छोटे-छोटे, संयत और मार्मिक हैं। भावों की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है कि उनको समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

गवेषणात्मक शैली

इस शैली में शुक्ल जी ने नवीन खोजपूर्ण निबंधों की रचना की है। आलोचनात्मक शैली की अपेक्षा यह शैली अधिक गंभीर और दुरूह है। इसमें भाषा क्लिष्ट है। वाक्य बड़े-बड़े हैं और मुहावरों का नितांत अभाव है।

भावात्मक शैली

शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंध भावात्मक शैली में लिखे गए हैं। यह शैली गद्य-काव्य का सा आनंद देती है। इस शैली की भाषा व्यवहारिक है। भावों की आवश्यकतानुसार छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के वाक्यों को अपनाया गया है। बहुत से वाक्य तो सूक्ति रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे - बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।

इनके अतिरिक्त शुक्ल जी के निबंधों में निगमन पद्धति, अलंकार योजना, तुकदार शब्द, हास्य-व्यंग्य, मूर्तिमत्ता आदि अन्य शैलीगत विशेषताएं भी मिलती हैं।

साहित्य में स्थान

शुक्ल जी शायद हिन्दी के पहले समीक्षक हैं जिन्होंने वैविध्यपूर्ण जीवन के ताने बाने में गुंफित काव्य के गहरे और व्यापक लक्ष्यों का साक्षात्कार करने का वास्तविक प्रयत्न किया। उन्होंने 'भाव या रस' को काव्य की आत्मा माना

है। पर उनके विचार से काव्य का अंतिम लक्ष्य आनन्द नहीं बल्कि विभिन्न भावों के परिष्कार, प्रसार और सामंजस्य द्वारा लोकमंगल की प्रतिष्ठा है। उनकी दृष्टि से महान् काव्य वह है जिससे जीवन की क्रियाशीलता उजागर हुई हो। इसे उन्होंने काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था कहा है। शुक्ल जी की समस्त मौलिक विचारणा लोकजीवन के मूर्त आदर्शों से प्रतिबद्ध है। 'हमारे हृदय का सीधा लगाव प्रकृति के गोचर रूपों से है' इसलिए कवि का सबसे पहला और आवश्यक काम 'बिंबग्रहण' या 'चित्रनुभव' कराना है। पूर्ण विंबग्रहण के लिए वर्ण्य वस्तु की 'परिस्थिति' का चित्रण भी अपेक्षित होता है। इस प्रकार शुक्ल जी काव्य द्वारा जीवन के समग्र बोध पर बल देते हैं। जीवन में और काव्य में किसी तरह की एकांगिता उन्हें अभीष्ट नहीं।

शुक्ल जी की स्थापनाएँ शास्त्रबद्ध उतनी नहीं हैं जितनी मौलिक। उन्होंने अपनी लोकभावना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्यशास्त्र का संस्कार किया। इस दृष्टि से वे आचार्य कोटि में आते हैं। काव्य में लोकमंगल की भावना शुक्ल जी की समीक्षा की शक्ति भी है और सीमा भी। उसकी शक्ति काव्यनिबद्ध जीवन के व्यावहारिक और व्यापक अर्थों के मार्मिक अनुसंधान में निहित है। पर उनकी आलोचना का पूर्वनिश्चित नैतिक केंद्र उनकी साहित्यिक मूल्यचेतना को कई अवसरों पर सीमित भी कर देता है उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि आलोच्य कवि की मनोगति की पहचान में अद्वितीय है।

जायसी, सूर और तुलसी की समीक्षाओं द्वारा शुक्ल जी ने व्यावहारिक आलोचना का उच्च प्रतिमान प्रस्तुत किया। इनमें शुक्ल जी की काव्यमर्मज्ञता, जीवनविवेक, विद्वत्ता और विश्लेषणक्षमता का असाधारण प्रमाण मिलता है। काव्यगत संवेदनाओं की पहचान, उनके पारदर्शी विश्लेषण और यथातथ्य भाषा के द्वारा उन्हें पाठक तक संप्रेषित कर देने की उनमें अपूर्व सामर्थ्य है। इनके हिंदी साहित्य के इतिहास की समीक्षाओं में भी ये विशेषताएँ स्पष्ट हैं।

शुक्ल जी के मनोविकार सम्बंधी निबन्ध परिणत प्रज्ञा की उपज हैं। इनमें भावों का मनोवैज्ञानिक रूप स्पष्ट किया गया है तथा मानव जीवन में उनकी आवश्यकता, मूल्य और महत्व का निर्धारण हुआ है। भावों के अनुरूप ही मनुष्य का आचरण ढलता है– इस दृष्टि से शुक्ल जी ने उनकी सामाजिक अर्थवत्ता का मनोयोगपूर्वक अनुसंधान किया। उन्होंने मनोविकारों के निषेध का उपदेश देनेवालों पर जबर्दस्त आक्रमण किया और मनोवेगों के परिष्कार पर जोर दिया। ये निबंध व्यावहारिक दृष्टि से पाठकों को अपने आपको और दूसरों को सही ढंग से

समझने में मदद देते हैं तथा उन्हें सामाजिक दायित्व और मर्यादा का बोध कराते हैं। समाज का संगठन और उन्नयन करनेवाले आदर्शों में आस्था इन रचनाओं का मूल स्वर है। भावों को जीवन की परिचित स्थितियों से संबद्ध करके काव्य की दृष्टि से भी उनका प्रामाणिक निरूपण हुआ है।

अपने सर्वोत्तम रूप में शुक्ल जी का विवेचनात्मक गद्य पारदर्शी है। गहन विचारों को सुसंगत ढंग से स्पष्ट कर देने की उनमें असामान्य क्षमता है। उनके गद्य में आत्मविश्वासजन्य दृढ़ता की दीप्ति है। उसमें यथातथ्यता और संक्षिप्तता का विशिष्ट गुण पाया जाता है। शुक्ल जी की सूक्तियाँ अत्यंत अर्थगर्भ होती हैं। उनके विवेचनात्मक गद्य ने हिंदी गद्य पर व्यापक प्रभाव डाला है।

शुक्ल जी का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' हिंदी का गौरवग्रंथ है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया कालविभाग, साहित्यिक धाराओं का सारर्थक निरूपण तथा कवियों की विशेषताबोधक समीक्षा इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। शुक्ल जी की कविताओं में उनके प्रकृतिप्रेम और सावधान सामाजिक भावों द्वारा उनका देशानुराग व्यंजित है। इनके अनुवादग्रंथ भाषा पर इनके सहज आधिपत्य के साक्षी हैं।

आचार्य शुक्ल बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। जिस क्षेत्र में भी कार्य किया उसपर उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ी। आलोचना और निबंध के क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा युगप्रवर्तक की है। 'काव्य में रहस्यवाद' निबंध पर इन्हें हिन्दुस्तानी अकादमी से 500 रुपये का तथा चिंतामणि पर हिन्दी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग द्वारा 1200 रुपये का मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

6

रामवृक्ष बेनीपुरी

रामवृक्ष बेनीपुरी (23 दिसंबर, 1899 - 7 सितंबर, 1968) भारत के एक महान विचारक, चिन्तक, मनन करने वाले क्रान्तिकारी साहित्यकार, पत्रकार, संपादक थे। वे हिन्दी साहित्य के शुक्लोत्तर युग के प्रसिद्ध साहित्यकार थे।

परिचय

इनका जन्म 23 दिसंबर, 1899 को उनके पैतृक गांव मुजफ्फरपुर जिले (बिहार) के बेनीपुर गांव के एक भूमिहर ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उसी के आधार पर उन्होंने अपना उपनाम 'बेनीपुरी' रखा था। उनकी प्राथमिक शिक्षा ननिहाल में हुई थी। मैट्रिक पास करने के बाद वे असहयोग आंदोलन में शामिल हो गये। उनकी भाषा-वाणी प्रभावशाली थी। उनका व्यक्तित्त्व आकर्षक एवं शौर्य की आभा से दीप्त था। वे एक सफल संपादक के रूप में भी याद किये जाते हैं। वे राजनीतिक पुरूष न थे, पक्के देशभक्त थे। इन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में आठ वर्ष जेल में बिताये थे। ये हिन्दी साहित्य के पत्रकार भी रहे और इन्होंने कई समाचारपत्रों जैसे युवक (1929) भी निकाले। इसके अलावा कई राष्ट्रवादी और स्वतंत्रता संग्राम संबंधी कार्यों में संलग्न रहे। 7 सितंबर, 1968 को वे इस संसार से विदा हो गये।

रचनाएँ

रामवृक्ष बेनीपुरी की आत्मा में राष्ट्रीय भावना लहू के संग लहू के रूप में बहती थी जिसके कारण आजीवन वह चैन की सांस न ले सके। उनके फुटकर लेखों से और उनके साथियों के संस्मरणों से ज्ञात होता है कि जीवन के प्रारंभ काल से ही क्रान्तिकारी रचनाओं के कारण बार-बार उन्हें कारावास भोगना पड़ता। सन् 1942 में अगस्त क्रांति आंदोलन के कारण उन्हें हजारीबाग जेल में रहना पड़ा। जेलवास में भी वह शान्त नहीं बैठे सकते थे। वे वहां जेल में भी आग भड़काने वाली रचनायें लिखते। जब भी वे जेल से बाहर आते उनके हाथ में दो-चार ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां अवश्य होतीं, जो आज साहित्य की अमूल्य निधि बन गईं। उनकी अधिकतर रचनाएं जेलवास की कृतियां हैं।

सन् 1930 के कारावास काल के अनुभव के आधार पर पतितों के देश में उपन्यास का सृजन हुआ। इसी प्रकार सन् 1946 में अंग्रेज भारत छोड़ने पर विवश हुए तो सभी राजनैतिक एवं देशभक्त नेताओं को रिहा कर दिया गया। उनमें रामवृक्ष बेनीपुरी जी भी थे। कारागार से मुक्ति की पावन पवन के साथ साहित्य की उत्कृष्ट रचना माटी की मूरतें, रेखाचित्र और आम्रपाली उपन्यास की पाण्डुलिपियां उनके उत्कृष्ट विचारों को अपने अन्दर समा चुकी थीं। उनकी अनेक रचनायें जो यश कलगी के समान हैं उनमें जय प्रकाश, नेत्रदान, सीता की मां, 'विजेता', 'मील के पत्थर', 'गेहूं और गुलाब' शामिल है। 'शेक्सपीयर के गांव में' और 'नींव की ईंट'-इन लेखों में भी रामवृक्ष बेनीपुरी ने अपने देश प्रेम, साहित्य प्रेम, त्याग की महत्ता, साहित्यकारों के प्रति सम्मान भाव दर्शाया है वह अविस्मरणीय है।

उनकी रचनाओं का विस्तृत विवरण इस प्रकार है-

नाटक

अम्बपाली -1941-46

सीता की माँ -1948-50

संघमित्र -1948-50

अमर ज्योति -1951

तथागत

सिंहल विजय

शकुन्तला

रामराज्य

नेत्रदान –1948–50
गाँव के देवता
नया समाज
विजेता –1953.
बैजू मामा, नेशनल बुक ट्र्स्ट, 1994
शमशान में अकेली अन्धी लड़की के हाथ में अगरबत्ती – 2012
सम्पादन एवं आलोचन
विद्यापति की पदावली
बिहारी सतसई की सुबोध टीका
जीवनी
जयप्रकाश नारायण
संस्मरण तथा निबन्ध
पतितों के देश में –1930–33
चिता के फूल –1930–32
लाल तारा –1937–39
कैदी की पत्नी –1940
माटी –1941–45
गेहूँ और गुलाब – 1948–50
जंजीरें और दीवारें
उड़ते चलो, उड़ते चलो
मील के पत्थर
ललित गद्य
वन्दे वाणी विनायक, 1953–54.
ग्रन्थावली

रामकृष्ण बेनीपुरी रचना संचयन, साहित्य अकादमी सम्मान

दिनकर जी ने एक बार बेनीपुरी जी के विषय में कहा था, 'स्वर्गीय पंडित रामवृक्ष बेनीपुरी केवल साहित्यकार नहीं थे, उनके भीतर केवल वही आग नहीं थी जो कलम से निकल कर साहित्य बन जाती है। वे उस आग के भी धनी थे जो राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों को जन्म देती है, जो परंपराओं को तोड़ती है और मूल्यों पर प्रहार करती है। जो चिंतन को निर्भीक एवं कर्म को

तेज बनाती है। बेनीपुरी जी के भीतर बेचैन कवि, बेचैन चिंतक, बेचैन क्रान्तिकारी और निर्भीक योद्धा सभी एक साथ निवास करते थे।' 1999 में भारतीय डाक सेवा द्वारा बेनीपुरी जी के सम्मान में भारत का भाषायी सौहार्द मनाने हेतु भारतीय संघ के हिन्दी को राष्ट्र–भाषा अपनाने की अर्ध–शती वर्ष में डाक–टिकटों का एक सेट जारी किया। उनके सम्मान में बिहार सरकार द्वारा वार्षिक अखिल भारतीय रामवृक्ष बेनीपुरी पुरस्कार दिया जाता है।

जयप्रकाश नारायण

(11 अक्टूबर, 1902 – 8 अक्टूबर, 1979) (संक्षेप में जेपी) भारतीय स्वतंत्रता सेनानी और राजनेता थे। उन्हें 1970 में इंदिरा गांधी के विरुद्ध विपक्ष का नेतृत्व करने के लिए जाना जाता है। इन्दिरा गांधी को पदच्युत करने के लिये उन्होने 'सम्पूर्ण क्रांति' नामक आन्दोलन चलाया। वे समाज–सेवक थे, जिन्हें 'लोकनायक' के नाम से भी जाना जाता है। 1999 में उन्हें मरणोपरान्त भारत रत्न से सम्मनित किया गया। इसके अतिरिक्त उन्हें समाजसेवा के लिए 1965 में मैगससे पुरस्कार प्रदान किया गया था। पटना के हवाई अड्डे का नाम उनके नाम पर रखा गया है। दिल्ली सरकार का सबसे बड़ा अस्पताल श्लोकनायक जयप्रकाश अस्पताल' भी उनके नाम पर है।

शिक्षा

पटना में अपने विद्यार्थी जीवन में जयप्रकाश नारायण ने स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लिया। जयप्रकाश नारायण बिहार विद्यापीठ में शामिल हो गये, जिसे युवा प्रतिभाशाली युवाओं को प्रेरित करने के लिए डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और सुप्रसिद्ध गांधीवादी डॉ. अनुग्रह नारायण सिन्हा द्वारा स्थापित किया गया था, जो गांधी जी के एक निकट सहयोगी रहे और बाद में बिहार के पहले उप मुख्यमंत्री सह वित्त मंत्री रहे। वे 1922 में उच्च शिक्षा के लिए अमेरिका गये, जहाँ उन्होंने 1922–1929 के बीच कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय–बरकली, विसकांसन विश्वविद्यालय में समाज–शास्त्र का अध्ययन किया। महँगी पढ़ाई के खर्चों को वहन करने के लिए उन्होंने खेतों, कम्पनियों, रेस्त्र में काम किया। वे मार्क्स के समाजवाद से प्रभावित हुए। उन्होंने एम. ए. की डिग्री हासिल की। उनकी माताजी की तबियत ठीक न होने के कारण वे भारत वापस आ गये और पी. एच. डी. पूरी न कर सके।

जीवन

उनका विवाह बिहार के प्रसिद्ध गांधीवादी बृज किशोर प्रसाद की पुत्री प्रभावती के साथ अक्टूबर 1920 में हुआ। प्रभावती विवाह के उपरान्त कस्तूरबा गांधी के साथ गांधी आश्रम में रहीं। वे डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और सुप्रसिद्ध गांधीवादी डॉ. अनुग्रह नारायण सिन्हा द्वारा स्थापित बिहार विद्यापीठ में शामिल हो गये। 1929 में जब वे अमेरिका से लौटे, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम तेजी पर था। उनका सम्पर्क गांधी जी के साथ काम कर रहे जवाहर लाल नेहरु से हुआ। वे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का हिस्सा बने। 1932 में गांधी, नेहरु और अन्य महत्त्वपूर्ण कांग्रेसी नेताओं के जेल जाने के बाद, उन्होंने भारत में अलग-अलग हिस्सों में संग्राम का नेतृत्व किया। अन्ततः उन्हें भी मद्रास में सितम्बर 1932 में गिरफ्तार कर लिया गया और नासिक के जेल में भेज दिया गया। यहाँ उनकी मुलाकात मीनू मसानी, अच्युत पटवर्धन, एन. सी. गोरे, अशोक मेहता, एम. एच. दाँतवाला, चार्ल्स मास्कारेन्हास और सी. के. नारायण स्वामी जैसे उत्साही कांग्रेसी नेताओं से हुई। जेल में इनके द्वारा की गयी चर्चाओं ने कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी (सी. एस. पी.) को जन्म दिया। सी. एस. पी. समाजवाद में विश्वास रखती थी। जब कांग्रेस ने 1934 में चुनाव में हिस्सा लेने का फैसला किया तो जे. पी. और सी. एस. पी. ने इसका विरोध किया।

1939 में उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, अंग्रेज सरकार के खिलाफ लोक आन्दोलन का नेतृत्व किया। उन्होंने सरकार को किराया और राजस्व रोकने के अभियान चलाये। टाटा स्टील कम्पनी में हड़ताल कराके यह प्रयास किया कि अंग्रेजों को इस्पात न पहुँचे। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और 9 महीने की कैद की सजा सुनाई गयी। जेल से छूटने के बाद उन्होंने गांधी और सुभाष चंद्र बोस के बीच सुलह का प्रयास किया। उन्हें बन्दी बनाकर मुम्बई की आर्थर जेल और दिल्ली की कैम्प जेल में रखा गया। 1942 भारत छोडो आन्दोलन के दौरान वे आर्थर जेल से फरार हो गये।

मुझे अपने लिए चिन्ता नहीं है, किन्तु देश के लिए मुझे चिन्ता है।– बिहार विभूति डॉ. अनुग्रह नारायण सिन्हा

उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान हथियारों के उपयोग को सही समझा। उन्होंने नेपाल जाकर आजाद दस्ते का गठन किया और उसे प्रशिक्षण दिया। उन्हें एक बार फिर पंजाब में चलती ट्रेन में सितम्बर 1943 में गिरफ्तार कर लिया गया। 16 महीने बाद जनवरी 1945 में उन्हें आगरा जेल में स्थान्तरित कर दिया

गया। इसके उपरान्त गांधी जी ने यह साफ कर दिया था कि डॉ. लोहिया और जे. पी. की रिहाई के बिना अंग्रेज सरकार से कोई समझौता नामुमकिन है। दोनों को अप्रील 1946 को आजाद कर दिया गया।

1948 में उन्होंने कांग्रेस के समाजवादी दल का नेतृत्व किया और बाद में गांधीवादी दल के साथ मिलकर समाजवादी सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की। 19 अप्रील, 1954 में गया, बिहार में उन्होंने विनोबा भावे के सर्वोदय आन्दोलन के लिए जीवन समर्पित करने की घोषणा की। 1957 में उन्होंने लोकनीति के पक्ष में राजनीति छोड़ने का निर्णय लिया।

1960 के दशक के अंतिम भाग में वे राजनीति में पुनः सक्रिय रहे। 1974 में किसानों के बिहार आन्दोलन में उन्होंने तत्कालीन राज्य सरकार से इस्तीफे की मांग की।

वे इंदिरा गांधी की प्रशासनिक नीतियों के विरुद्ध थे। गिरते स्वास्थ्य के बावजूद उन्होंने बिहार में सरकारी भ्रष्टाचार के खिलाफ आन्दोलन किया। उनके नेतृत्व में पीपुल्स फ्रंट ने गुजरात राज्य का चुनाव जीता। 1975 में इंदिरा गांधी ने आपातकाल की घोषणा की जिसके अन्तर्गत जे. पी. सहित 600 से भी अधिक विरोधी नेताओं को बन्दी बनाया गया और प्रेस पर सेंसरशिप लगा दी गयी। जेल में जे. पी. की तबीयत और भी खराब हुई। 7 महीने बाद उनको मुक्त कर दिया गया। 1977 जेपी के प्रयासों से एकजुट विरोध पक्ष ने इंदिरा गांधी को चुनाव में हरा दिया।

जयप्रकाश नारायण का निधन उनके निवास स्थान पटना में 8 अक्टूबर 1979 को हृदय की बीमारी और मधुमेह के कारण हुआ। उनके सम्मान में तत्कालीन प्रधानमंत्री चौधरी चरण सिंह ने 7 दिन के राष्ट्रीय शोक की घोषणा की थी, उनके सम्मान में कई हजार लोग उनकी शोक यात्रा में शामिल हुए।

सम्पूर्ण क्रान्ति का आह्वान

15 जून सन् 1975 को पटना के गांधी मैदान में छात्रों की विशाल समूह के समक्ष 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का उद्घोष किया गया।

पाँच जून के पहले छात्रों - युवकों की कुछ तात्कालिक मांगें थीं, जिन्हें कोई भी सरकार जिद न करती तो आसानी से मान सकती थी। लेकिन पाँच जून को जे. पी. ने घोषणा की—

'भ्रष्टाचार मिटाना, बेरोजगारी दूर करना, शिक्षा में क्रांति लाना, आदि ऐसी चीजें हैं, जो आज की व्यवस्था से पूरी नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे इस व्यवस्था

की ही उपज हैं। वे तभी पूरी हो सकती हैं जब सम्पूर्ण व्यवस्था बदल दी जाए और सम्पूर्ण व्यवस्था के परिवर्तन के लिए क्रान्ति,'सम्पूर्ण क्रान्ति' आवश्यक है।'

सम्पूर्ण क्रान्ति के आह्वान उन्होंने श्रीमती इंदिरा गांधी की सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए किया था।

लोकनायक नें कहा कि सम्पूर्ण क्रांति में सात क्रांतियाँ शामिल हैं– राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक, शैक्षणिक व आध्यात्मिक क्रांति। इन सातों क्रांतियों को मिलाकर सम्पूर्ण क्रान्ति होती है।

सम्पूर्ण क्रांति की तपिश इतनी भयानक थी कि केन्द्र में कांग्रेस को सत्ता से हाथ धोना पड़ गया था। जय प्रकाश नारायण जिनकी हुंकार पर नौजवानों का जत्था सड़कों पर निकल पड़ता था। बिहार से उठी सम्पूर्ण क्रांति की चिंगारी देश के कोने-कोने में आग बनकर भड़क उठी थी। जे. पी. के नाम से मशहूर जयप्रकाश नारायण घर-घर में क्रांति का पर्याय बन चुके थे। लालमुनि चौबे, लालू प्रसाद, नीतीश कुमार, रामविलास पासवान या फिर सुशील मोदी, आज के सारे नेता उसी छात्र युवा संघर्ष वाहिनी का हिस्सा थे।

सम्मान

भारतरत्न (1998 में, मरणोपरान्त)

राष्ट्रभूषण सम्मान (एफ आई ई फाउण्डेशन)

रमन मैगसेसे पुरस्कार (1965 में, लोकसेवा के लिए)

लोकनायक जयप्रकाश नारायण की स्मृति में कुछ संस्थानों के नाम उनके नाम पर रखे गये हैं, जैसे

जयप्रकाश नारायण विश्वविद्यालय

जयप्रकाश विश्वविद्यालय

लोकनायक जयप्रकाश विमानक्षेत्र

जयप्रकाश नारायण अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा

लोकनायक जयप्रकाश नारायण राष्ट्रीय अपराधशास्त्र एवं विधि-विज्ञान संस्थान, नयी दिल्ली

लोकनायक जयप्रकाश नारायण राष्ट्रीय अपराध तथा न्याय विज्ञान संस्थान

लोकनायक जयप्रकाश, दिल्ली

7

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद (30 जनवरी 1889 – 15 नवंबर 1937) , हिन्दी कवि, नाटककार, उपन्यासकार तथा निबन्धकार थे। वे हिन्दी के छायावादी युग के चार प्रमुख स्तंभों में से एक हैं। उन्होंने हिन्दी काव्य में एक तरह से छायावाद की स्थापना की जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में न केवल कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई, बल्कि जीवन के सूक्ष्म एवं व्यापक आयामों के चित्रण की शक्ति भी संचित हुई और कामायनी तक पहुँचकर वह काव्य प्रेरक शक्तिकाव्य के रूप में भी प्रतिष्ठित हो गया। बाद के प्रगतिशील एवं नई कविता दोनों धाराओं के प्रमुख आलोचकों ने उसकी इस शक्तिमत्ता को स्वीकृति दी। इसका एक अतिरिक्त प्रभाव यह भी हुआ कि खड़ीबोली हिन्दी काव्य की निर्विवाद सिद्ध भाषा बन गयी।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनके कृतित्त्व का गौरव अक्षुण्ण है। वे एक युगप्रवर्तक लेखक थे जिन्होंने एक ही साथ कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में हिंदी को गौरवान्वित होने योग्य कृतियाँ दीं। कवि के रूप में वे निराला, पन्त, महादेवी के साथ छायावाद के प्रमुख स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं, नाटक लेखन में भारतेन्दु के बाद वे एक अलग धारा बहाने वाले युगप्रवर्तक नाटककार रहे जिनके नाटक आज भी पाठक न केवल चाव से पढ़ते हैं, बल्कि उनकी अर्थगर्भिता तथा रंगमंचीय प्रासंगिकता भी दिनानुदिन बढ़ती ही गयी है। इस दृष्टि से उनकी महत्ता पहचानने एवं स्थापित करने में वीरेन्द्र

नारायण, शांता गाँधी, सत्येन्द्र तनेजा एवं अब कई दृष्टियों से सबसे बढ़कर महेश आनन्द का प्रशंसनीय ऐतिहासिक योगदान रहा है। इसके अलावा कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी उन्होंने कई यादगार कृतियाँ दीं। विविध रचनाओं के माध्यम से मानवीय करुणा और भारतीय मनीषा के अनेकानेक गौरवपूर्ण पक्षों का उद्घाटन। 48 वर्षो के छोटे से जीवन में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास और आलोचनात्मक निबंध आदि विभिन्न विधाओं में रचनाएँ की।

इनके पितामह बाबू शिवरतन साहू दान देने में प्रसिद्ध थे और इनके पिता बाबू देवीप्रसाद जी कलाकारों का आदर करने के लिये विख्यात थे। इनका काशी में बड़ा सम्मान था और काशी की जनता काशीनरेश के बाद 'हर हर महादेव' से बाबू देवीप्रसाद का ही स्वागत करती थी। किशोरावस्था के पूर्व ही माता और बड़े भाई का देहावसान हो जाने के कारण 17 वर्ष की उम्र में ही प्रसाद जी पर आपदाओं का पहाड़ ही टूट पड़ा। कच्ची गृहस्थी, घर में सहारे के रूप में केवल विधवा भाभी, कुटुबिंयों, परिवार से संबद्ध अन्य लोगों का संपत्ति हड़पने का षड्यंत्र, इन सबका सामना उन्होंने धीरता और गंभीरता के साथ किया। प्रसाद जी की प्रारंभिक शिक्षा काशी में क्वींस कालेज में हुई, किंतु बाद में घर पर इनकी शिक्षा का व्यापक प्रबंध किया गया, जहाँ संस्कृत, हिंदी, उर्दू, तथा फारसी का अध्ययन इन्होंने किया। दीनबंधु ब्रह्मचारी जैसे विद्वान्‌ इनके संस्कृत के अध्यापक थे। इनके गुरुओं में 'रसमय सिद्ध' की भी चर्चा की जाती है।

घर के वातावरण के कारण साहित्य और कला के प्रति उनमें प्रारंभ से ही रुचि थी और कहा जाता है कि नौ वर्ष की उम्र में ही उन्होंने 'कलाधर' के नाम से व्रजभाषा में एक सवैया लिखकर 'रसमय सिद्ध' को दिखाया था। उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण तथा साहित्य शास्त्र का अत्यंत गंभीर अध्ययन किया था। वे बाग-बगीचे तथा भोजन बनाने के शौकीन थे और शतरंज के खिलाड़ी भी थे। वे नियमित व्यायाम करनेवाले, सात्विक खान पान एवं गंभीर प्रकृति के व्यक्ति थे। वे नागरीप्रचारिणी सभा के उपाध्यक्ष भी थे। क्षय रोग से नवम्बर 15, 1937 (दिन-सोमवार) को प्रातःकाल (उम्र 47) उनका देहांत काशी में हुआ।

काव्य

प्रसाद की काव्य रचनाएँ दो वर्गो में विभक्त है–काव्यपथ अनुसंधान की रचनाएँ और रससिद्ध रचनाएँ। आँसू, लहर तथा कामायनी दूसरे वर्ग की रचनाएँ हैं। उन्होंने काव्यरचना ब्रजभाषा में आरम्भ की और धीर-धीरे खड़ी बोली को

अपनाते हुए इस भाँति अग्रसर हुए कि खड़ी बोली के मूर्धन्य कवियों में उनकी गणना की जाने लगी और वे युगवर्तक कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

कानन कुसुम
महाराणा का महत्व
झरना(1918)
आंसू
लहर
कामायनी 1935
प्रेम पथिक

उन्होंने हिंदी काव्य में छायावाद की स्थापना की जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई और वह काव्य की सिद्ध भाषा बन गई। उनकी सर्वप्रथम छायावादी रचना 'खोलो द्वार' 1914 ई. में इंदु में प्रकाशित हुई। वे छायावाद के प्रतिष्ठापक ही नहीं अपितु छायावादी पद्धति पर सरस संगीतमय गीतों के लिखनेवाले श्रेष्ठ कवि भी हैं। उन्होंने हिंदी में 'करुणालय' द्वारा गीत नाट्य का भी आरंभ किया। उन्होंने भिन्न तुकांत काव्य लिखने के लिये मौलिक छंदचयन किया और अनेक छंद का संभवतः उन्होंने सबसे पहले प्रयोग किया। उन्होंने नाटकीय ढंग पर काव्य-कथा-शैली का मनोवैज्ञानिक पथ पर विकास किया। साथ ही कहानी कला की नई टेकनीक का संयोग काव्यकथा से कराया। प्रगीतों की ओर विशेष रूप से उन्होंने गद्य साहित्य को संपुष्ट किया और नीरस इतिवृत्तात्मक काव्यपद्धति को भावपद्धति के सिंहासन पर स्थापित किया।

काव्यक्षेत्र में प्रसाद की कीर्ति का मूलाधार 'कामायनी' है। खड़ी बोली का यह अद्वितीय महाकाव्य मनु और श्रद्धा को आधार बनाकर रचित मानवता को विजयिनी बनाने का संदेश देता है। यह रूपक कथाकाव्य भी है जिसमें मन, श्रद्धा और इड़ा (बुद्धि) के योग से अखंड आनंद की उपलब्धि का रूपक प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर संयोजित किया गया है। उनकी यह कृति छायावाद ओर खड़ी बोली की काव्यगरिमा का ज्वलंत उदाहरण है। सुमित्रनंदन पंत इसे 'हिंदी में ताजमहल के समान' मानते हैं। शिल्पविधि, भाषासौष्ठव एवं भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से इसकी तुलना खड़ी बोली के किसी भी काव्य से नहीं की जा सकती है।

कहानी

कथा के क्षेत्र में प्रसाद जी आधुनिक ढंग की कहानियों के आरंभयिता माने जाते हैं। सन् 1912 ई. में 'इंदु' में उनकी पहली कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई। उन्होंने कुल 72 कहानियाँ लिखी हैं। कहानी संग्रह–

छाया

प्रतिध्वनि

आकाशदीप

आंधी

इन्द्रजाल

उनकी अधिकतर कहानियों में भावना की प्रधानता है, किंतु उन्होंने यथार्थ की दृष्टि से भी कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी वातावरणप्रधान कहानियाँ अत्यंत सफल हुई हैं। उन्होंने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों पर मौलिक एवं कलात्मक कहानियाँ लिखी हैं। भावना-प्रधान प्रेमकथाएँ, समस्यामूलक कहानियाँ लिखी हैं। भावना प्रधान प्रेमकथाएँ, समस्यामूलक कहानियाँ, रहस्यवादी, प्रतीकात्मक और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उत्तम कहानियाँ, भी उन्होंने लिखी हैं। ये कहानियाँ भावनाओं की मिठास तथा कवित्व से पूर्ण हैं।

प्रसाद जी भारत के उन्नत अतीत का जीवित वातावरण प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त थे। उनकी कितनी ही कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें आदि से अंत तक भारतीय संस्कृति एवं आदर्शो की रक्षा का सफल प्रयास किया गया है। उनकी कुछ श्रेष्ठ कहानियों के नाम हैं–आकाशदीप, गुंडा, पुरस्कार, सालवती, स्वर्ग के खंडहर में आँधी, इंद्रजाल, छोटा जादूगर, बिसाती, मधुआ, विरामचिह्न, समुद्रसंतरणय अपनी कहानियों में जिन अमर चरित्रों की उन्होंने सृष्टि की है, उनमें से कुछ हैं चंपा, मधुलिका, लैला, इरावती, सालवती और मधुआ का शराबी, गुंडा का नन्हकूसिंह और घीसू जो अपने अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं।

उपन्यास

प्रसाद ने तीन उपन्यास लिखे हैं। 'कंकाल', में नागरिक सभ्यता का अंतर यथार्थ उद्घाटित किया गया है। 'तितली' में ग्रामीण जीवन के सुधार के संकेत हैं। प्रथम यथार्थवादी उन्यास है व दूसरे में आदर्शोन्मुख यथार्थ है। इन उपन्यासों के द्वारा प्रसाद जी हिंदी में यथार्थवादी उपन्यास लेखन के क्षेत्र में अपनी गरिमा

स्थापित करते हैं। 'इरावती' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया इनका अधूरा उपन्यास है, जो रोमांस के कारण ऐतिहासिक रोमांस के उपन्यासों में विशेष आदर का पात्र है। इन्होंने अपने उपन्यासों में ग्राम, नगर, प्रकृति और जीवन का मार्मिक चित्रण किया है, जो भावुकता और कवित्व से पूर्ण होते हुए भी प्रौढ़ लोगों की शैल्पिक जिज्ञासा का समाधान करता है।

नाटक

प्रसाद ने आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक, कुल 13 नाटकों की सर्जना की। 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर ये नाटक मूलतः इतिहास पर आधृत हैं। इनमें महाभारत से लेकर हर्ष के समय तक के इतिहास से सामग्री ली गई है। वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। उनके नाटकों में सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना इतिहास की भित्ति पर संस्थित है।

स्कंदगुप्त
चंद्रगुप्त
ध्रुवस्वामिनी
जन्मेजय का नाग यज्ञ
राज्यश्री
कामना
एक घूंट

जयशंकर प्रसाद ने अपने दौर के पारसी रंगमंच की परंपरा को अस्वीकारते हुए भारत के गौरवमय अतीत के अनमोल चरित्रों को सामने लाते हुए अविस्मरनीय नाटकों की रचना की। उनके नाटक स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि में स्वर्णिम अतीत को सामने रखकर मानों एक सोये हुए देश को जागने की प्रेरणा दी जा रही थी। उनके नाटकों में देशप्रेम का स्वर अत्यंत दर्शनीय है और इन नाटकों में कई अत्यंत सुंदर और प्रसिद्ध गीत मिलते हैं। 'हिमाद्रि तुंग शृंग से', 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' जैसे उनके नाटकों के गीत सुप्रसिद्ध रहे हैं।

इनके नाटकों पर अभिनेय न होने का आरोप है। आक्षेप लगता रहा है कि वे रंगमंच के हिसाब से नहीं लिखे गए है जिसका कारण यह बताया जाता है कि इनमें काव्यतत्त्व की प्रधानता, स्वगत कथनों का विस्तार, गायन का बीच बीच में प्रयोग तथा दृश्यों का त्रुटिपूर्ण संयोजन है। किंतु उनके अनेक नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। उनके नाटकों में प्राचीन वस्तुविन्यास और

रसवादी भारतीय परंपरा तो है ही, साथ ही पारसी नाटक कंपनियों, बँगला तथा भारतेंदुयुगीन नाटकों एवं शेक्सपियर की नाटकीय शिल्पविधि के योग से उन्होंने नवीन मार्ग ग्रहण किया है। उनके नाटकों के आरंभ और अंत में उनका अपना मौलिक शिल्प है, जो अत्यंत कलात्मक है। उनके नायक और प्रतिनायक दोनों चारित्रिक दृष्टि के गठन से अपनी विशेषता से मंडित हैं। इनकी नायिकाएँ भी नारीसुलभ गुणों से, प्रेम, त्याग, उत्सर्ग, भावुक उदारता से पूर्ण हैं। उन्होंने अपने नाटकों में जहाँ राजा, आचार्य, सैनिक, वीर और कूटनीतिज्ञ का चित्रण किया है वहीं ओजस्वी, महिमाशाली स्त्रियों और विलासिनी, वासनामयी तथा उग्र नायिकाओं का भी चित्रण किया है। चरित्रचित्रण उनके अत्यंत सफल हैं। चरित्रचित्रण की दृष्टि से उन्होंने नाटकों में राजश्री एवं चाणक्य को अमर कर दिया है। नाटकों में इतिहास के आधार पर वर्तमान समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रस्तुत करते हुए वे मिलते हैं। किंतु गंभीर चिंतन के साथ स्वच्छंद काव्यात्मक दृष्टि उनके समाधान के मूल में है। कथोपकथन स्वाभाविक है, किंतु उनकी भाषा संस्कृतगर्भित है। नाटकों में दार्शनिक गंभीतरता का बाहुल्य है पर वह गद्यात्मक न होकर सरस है। उन्होंने कुछ नाटकों में स्वगत का भी प्रयोग किया है, किंतु ऐसे नाटक केवल चार हैं। भारतीय नाट्य परंपरा में विश्वास करने के कारण उन्होंने नाट्यरूपक 'कामना' के रूप में प्रस्तुत किया। ये नाटक प्रभाव की एकता लाने में पूर्ण सफल हैं। अपनी कुछ त्रुटियों के बावजूद प्रसाद जी नाटककार के रूप में हिंदी में अप्रतिम हैं।

हिन्दी का प्रथम कहानी 'इन्दूमती' को माना जाता है।

पुरस्कार

जयशंकर प्रसाद को 'कामायनी' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

8

प्रेमचंद

प्रेमचंद (31जुलाई 1880 - 8अक्टूबर 1936) हिन्दी और उर्दू के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार, कहानीकार एवं विचारक थे। भारत के उत्तरप्रदेश राज्य के लमही ग्राम में जन्मे प्रेमचंद का मूल नाम धनपत राय था। आरंभ में वे उर्दू की पत्रिका 'जमाना' में नवाब राय के नाम से लिखते थे। पहले कहानी संग्रह 'सोजे वतन' (1907) के अंगरेज सरकार द्वारा जब्त किए जाने तथा लिखने पर प्रतिबंध लगाने के बाद वे प्रेमचंद के नए नाम से लिखने लगे। सेवासदन (1918) उनका हिंदी में प्रकाशित होने वाला पहला उपन्यास था।

इसकी बेहद लोकप्रियता ने प्रेमचंद को हिंदी का कथाकार बना दिया। हालाँकि प्राय: उनकी सभी रचनाएं हिंदी और उर्दू दोनों में प्रकाशित होती रहीं। उनका अंतिम पूर्ण उपन्यास गोदान (1936) किसान जीवन पर लिखी अद्वितीय रचना है। प्रेमचंद ने लगभग तीन सौ कहानियां भी लिखीं जिनमें उनके रचना काल का सामाजिक सांस्कृतिक तथा राजनीतिक इतिहास सुरक्षित हो गया है। उन्होंने 'जागरण' नामक समाचार पत्र तथा 'हंस' नामक मासिक साहित्यिक पत्रिका का संपादन किया था। उन्होंने सरस्वति प्रेस भी चलाया था। वे भारत में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम सभापति बनाए गए थे। उनके रचनात्मक योगदान के कारण ही 1918 से 1936 तक के हिंदी कहानी एवं उपन्यास के कालखंड को प्रेमचंद युग कहा जाता है।

जीवन परिचय

प्रेमचंद का जन्म 31 जुलाई 1880 को वाराणसी के निकट लमही गाँव में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। लमही, उत्तर प्रदेश राज्य के बनारस शहर के नजदीक ही लगभग चार मील दूर स्थित है। उनकी माता का नाम आनन्दी देवी था तथा पिता मुंशी अजायबराय लमही में डाकमुंशी थे। उनकी शिक्षा का आरंभ उर्दू, फारसी से हुआ और जीवनयापन का अध्यापन से। पढ़ने का शौक उन्हें बचपन से ही लग गया। 13 साल की उम्र में ही उन्होंने तिलिस्म-ए-होशरुबा पढ़ लिया और उन्होंने उर्दू के मशहूर रचनाकार रतननाथ 'शरसार', मिर्जा हादी रुस्वा और मौलाना शरर के उपन्यासों से परिचय प्राप्त कर लिया। 1898 में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वे एक स्थानीय विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गए। नौकरी के साथ ही उन्होंने पढ़ाई जारी रखी। 1910 में उन्होंने अंग्रेजी, दर्शन, फारसी और इतिहास लेकर इंटर पास किया और 1919 में बी. ए. पास करने के बाद शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हुए।

सात वर्ष की अवस्था में उनकी माता तथा चौदह वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हो जाने के कारण उनका प्रारंभिक जीवन संघर्षमय रहा। उनका पहला विवाह पंद्रह साल की उम्र में हुआ जो सफल नहीं रहा। वे आर्य समाज से प्रभावित रहे, जो उस समय का बहुत बड़ा धार्मिक और सामाजिक आंदोलन था। उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन किया और 1906 में दूसरा विवाह अपनी प्रगतिशील परंपरा के अनुरूप बाल-विधवा शिवरानी देवी से किया। उनकी तीन संताने हुई- श्रीपत राय, अमृत राय और कमला देवी श्रीवास्तव। 1910 में उनकी रचना सोजे-वतन (राष्ट्र का विलाप) के लिए हमीरपुर के जिला कलेक्टर ने तलब किया और उन पर जनता को भड़काने का आरोप लगाया। सोजे-वतन की सभी प्रतियाँ जब्त कर नष्ट कर दी गईं। कलेक्टर ने नवाबराय को हिदायत दी कि अब वे कुछ भी नहीं लिखेंगे, यदि लिखा तो जेल भेज दिया जाएगा। इस समय तक प्रेमचंद, धनपत राय नाम से लिखते थे। उर्दू में प्रकाशित होने वाली जमाना पत्रिका के सम्पादक और उनके अजीज दोस्त मुंशी दयानारायण निगम की सलाह से वे प्रेमचंद नाम से लिखने लगे। उन्होंने आरंभिक लेखन जमाना पत्रिका में ही किया। जीवन के अंतिम दिनों में वे गंभीर रूप से बीमार पड़े। उनका उपन्यास मंगलसूत्र पूरा नहीं हो सका और लम्बी बीमारी के बाद 8 अक्टूबर 1936 को उनका निधन हो गया। उनका अंतिम उपन्यास मंगल सूत्र उनके पुत्र अमृतराय ने पूरा किया।

साहित्यिक जीवन

प्रेमचंद के साहित्यिक जीवन का आरंभ 1901 से हो चुका था पर उनकी पहली हिन्दी कहानी सरस्वती पत्रिका के दिसम्बर अंक में 1915 में सौत नाम से प्रकाशित हुई और 1936 में अंतिम कहानी कफन नाम से प्रकाशित हुई। प्रेमचंद के लेख 'पहली रचना' के अनुसार उनकी पहली रचना अपने मामा पर लिखा व्यंग्य थी, जो अब अनुपलब्ध्ध है। उनका पहला उपलब्ध्ध लेखन उनका उर्दू उपन्यास 'असरारे मआबिद' है। प्रेमचंद का दूसरा उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' जिसका हिंदी रूपांतरण 'प्रेमा' नाम से 1907 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद प्रेमचंद का पहला कहानी संग्रह सोजे-वतन नाम से आया जो 1908 में प्रकाशित हुआ। देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत होने के कारण इस पर अंग्रेजी सरकार ने रोक लगा दी और इसके लेखक को भविष्य में इस तरह का लेखन न करने की चेतावनी दी। इसके कारण उन्हें नाम बदलकर लिखना पड़ा। 'प्रेमचंद' नाम से उनकी पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' जमाना पत्रिका के दिसम्बर 1910 के अंक में प्रकाशित हुई। मरणोपरांत उनकी कहानियाँ मानसरोवर नाम से 8 खंडों में प्रकाशित हुई। 1921 में उन्होंने महात्मा गांधी के आह्वान पर अपनी नौकरी छोड़ दी। कुछ महीने मर्यादा पत्रिका का संपादन भार संभाला, छह साल तक माधुरी नामक पत्रिका का संपादन किया, 1930 में बनारस से अपना मासिक पत्र हंस शुरू किया और 1932 के आरंभ में जागरण नामक एक साप्ताहिक और निकाला। उन्होंने लखनऊ में 1936 में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन की अध्यक्षता की। उन्होंने मोहन दयाराम भवनानी की अजंता सिनेटोन कंपनी में कहानी-लेखक की नौकरी भी की। 1934 में प्रदर्शित मजदूर नामक फिल्म की कथा लिखी और कॉन्ट्रेक्ट की साल भर की अवधि पूरी किये बिना ही दो महीने का वेतन छोड़कर बनारस भाग आये। उन्होंने मूल रूप से हिंदी में 1915 से कहानियां लिखना और 1918 (सेवासदन) से उपन्यास लिखना शुरू किया।

रचनाएं

उपन्यास

प्रेमचंद का पहला उर्दू उपन्यास (अपूर्ण) 'असरारे मआबिद' उर्फ 'देवस्थान रहस्य' उर्दू साप्ताहिक 'आवाज-ए-खल्क' में 8 अक्टूबर, 1903 से

1 फरवरी, 1905 तक धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ। उनका दूसरा उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' जिसका हिंदी रूपांतरण 'प्रेमा' नाम से 1907 में प्रकाशित हुआ। चूंकि प्रेमचंद मूल रूप से उर्दू के लेखक थे और उर्दू से हिंदी में आए थे, इसलिए उनके सभी आरंभिक उपन्यास मूल रूप से उर्दू में लिखे गए और बाद में उनका हिन्दी तर्जुमा किया गया।

सेवासदन (1918)- यह मूल रूप से उन्होंने 'बाजारे-हुस्न' नाम से पहले उर्दू में लिखा गया लेकिन इसका हिंदी रूप 'सेवासदन' पहले प्रकाशित हुआ। यह एक नारी के वेश्या बनने की कहानी है। डॉ रामविलास शर्मा 'सेवासदन' की मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता को मानते हैं।

प्रेमाश्रम (1922)- यह किसान जीवन पर उनका पहला उपन्यास है। इसका मसौदा भी पहले उर्दू में 'गोशाए-आफियत' नाम से तैयार हुआ था लेकिन इसे पहले हिंदी में प्रकाशित कराया। यह अवध के किसान आंदोलनों के दौर में लिखा गया।

रंगभूमि (1925)- इसमें प्रेमचंद एक अंधे भिखारी सूरदास को कथा का नायक बनाकर हिंदी कथा साहित्य में क्रांतिकारी बदलाव का सूत्रपात करते हैं।

निर्मला (1925)

कायाकल्प (1927)

गबन (1928)

कर्मभूमि (1932)

गोदान (1936)

मंगलसूत्र (अपूर्ण)- यह प्रेमचंद का अधूरा उपन्यास है।

कहानी

इनकी अधिकतर कहानियाँ में निम्न व मध्यम वर्ग का चित्रण है। डॉ. कमलकिशोर गोयनका ने प्रेमचंद की संपूर्ण हिंदी-उर्दू कहानी को प्रेमचंद कहानी रचनावली नाम से प्रकाशित कराया है। उनके अनुसार प्रेमचंद ने कुल 301 कहानियाँ लिखी हैं जिनमें 3 अभी अप्राप्य हैं। प्रेमचंद का पहला कहानी संग्रह सोजे वतन नाम से जून 1908 में प्रकाशित हुआ। इसी संग्रह की पहली कहानी दुनिया का सबसे अनमोल रतन को आम तौर पर उनकी पहली प्रकाशित कहानी माना जाता रहा है। डॉ. गोयनका के अनुसार कानपुर से निकलने वाली उर्दू मासिक पत्रिका जमाना के अप्रैल अंक में प्रकाशित सांसारिक प्रेम और देश-प्रेम

(इश्के दुनिया और हुब्बे वतन) वास्तव में उनकी पहली प्रकाशित कहानी है। प्रेमचंद की प्रमुख कहानियाँ–

'पंच परमेश्वर',
'गुल्ली डंडा',
'दो बैलों की कथा',
'ईदगाह',
'बड़े भाई साहब',
'पूस की रात',
'ठाकुर का कुआँ',
'सद्गति',
'बूढ़ी काकी',
'तावान',
'विध्वंस',
'दूध का दाम',
'मंत्र'
'कफन'
'पागल हाथी'
कहानी संग्रह–
'सप्त सरोज',
'नवनिधि',
'प्रेमपूर्णिमा',
'प्रेम-पचीसी',
'प्रेम-प्रतिमा',
'प्रेम-द्वादशी',
'समरयात्र',

'मानसरोवर'–भाग एक व दो और 'कफन'। उनकी मृत्यु के बाद उनकी कहानियाँ 'मानसरोवर' शीर्षक से 8 भागों में प्रकाशित हुई।

प्रेमचंद जी की लोकप्रिय कहानियाँ

नाटक

संग्राम (1923),
कर्बला (1924)
प्रेम की वेदी (1933)

ये नाटक शिल्प और संवेदना के स्तर पर अच्छे हैं, लेकिन उनकी कहानियों और उपन्यासों ने इतनी ऊँचाई प्राप्त कर ली थी कि नाटक के क्षेत्र में प्रेमचंद को कोई खास सफलता नहीं मिली। ये नाटक वस्तुतः संवादात्मक उपन्यास ही बन गए हैं।

निबंध

अमृतराय द्वारा संपादित 'प्रेमचंद–विविध प्रसंग' (तीन भाग) वास्तव में प्रेमचंद के लेखों का ही संकलन है। प्रेमचंद के निबंधों प्रकाशन संस्थान से 'कुछ विचार' शीर्षक से भी छपे हैं। उनके प्रसिद्ध लेख हैं–

साहित्य का उद्देश्य,
पुराना जमाना नया जमाना,
स्वराज के फायदे,
कहानी कला (1, 2, 3),
कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार,
हिंदी–उर्दू की एकता,
महाजनी सभ्यता,
उपन्यास,
जीवन में साहित्य का स्थान।

अनुवाद

प्रेमचंद एक सफल अनुवादक भी थे। उन्होंने दूसरी भाषाओं के जिन लेखकों को पढ़ा और जिनसे प्रभावित हुए, उनकी कृतियों का अनुवाद भी किया। 'टॉलस्टॉय की कहानियाँ' (1923), गाल्सवर्दी के तीन नाटकों का हड़ताल (1930), चाँदी की डिबिया (1931) और न्याय (1931) नाम से अनुवाद किया। उनके द्वारा रतननाथ सरशार के उर्दू उपन्यास फसान–ए–आजाद का हिंदी अनुवाद आजाद कथा बहुत मशहूर हुआ।

जीवनी

प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी ने प्रेमचंद घर लिखी और उनके व्यक्तित्त्व के उस हिस्से को उजागर किया है, जिससे लोग अनभिज्ञ थे। यह पुस्तक 1944 में पहली बार प्रकाशित हुई थी, लेकिन साहित्य के क्षेत्र में इसके महत्व का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसे दुबारा 2005 में संशोधित

करके प्रकाशित की गई, इस काम को उनके ही नाती प्रबोध कुमार ने अंजाम दिया। इसका अंग्रेजी व हसन मंजर का किया हुआ उर्दू अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। उनके ही बेटे अमृत राय ने कलम का सिपाही नाम से पिता की जीवनी लिखी है।

विविध

बाल साहित्य–रामकथा, कुत्ते की कहानी

विचार–प्रेमचंद–विविध प्रसंग, प्रेमचंद के विचार (तीन खंडों में)

संपादन–मर्यादा, माधुरी, हंस, जागरण

समालोचना

प्रेमचन्द उर्दू का संस्कार लेकर हिन्दी में आए थे और हिन्दी के महान लेखक बने। हिन्दी को अपना खास मुहावरा और खुलापन दिया। कहानी और उपन्यास दोनो में युगान्तरकारी परिवर्तन किए। उन्होने साहित्य में सामयिकता प्रबल आग्रह स्थापित किया। आम आदमी को उन्होंने अपनी रचनाओं का विषय बनाया और उसकी समस्याओं पर खुलकर कलम चलाते हुए उन्हें साहित्य के नायकों के पद पर आसीन किया। प्रेमचंद से पहले हिंदी साहित्य राजा-रानी के किस्सों, रहस्य-रोमांच में उलझा हुआ था। प्रेमचंद ने साहित्य को सच्चाई के धरातल पर उतारा। उन्होंने जीवन और कालखंड की सच्चाई को पन्ने पर उतारा। वे सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार, जमींदारी, कर्जखोरी, गरीबी, उपनिवेशवाद पर आजीवन लिखते रहे। प्रेमचन्द की ज्यादातर रचनाएँ उनकी ही गरीबी और दैन्यता की कहानी कहती है। ये भी गलत नहीं है कि वे आम भारतीय के रचनाकार थे। उनकी रचनाओं में वे नायक हुए, जिसे भारतीय समाज अछूत और घृणित समझा था। उन्होंने सरल, सहज और आम बोल-चाल की भाषा का उपयोग किया और अपने प्रगतिशील विचारों को दृढ़ता से तर्क देते हुए समाज के सामने प्रस्तुत किया। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के पहले सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने कहा कि लेखक स्वभाव से प्रगतिशील होता है और जो ऐसा नहीं है वह लेखक नहीं है। प्रेमचंद हिन्दी साहित्य के युग प्रवर्तक हैं। उन्होंने हिन्दी कहानी में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की एक नई परंपरी शुरू की।

प्रेमचंद के जीवन संबंधी विवाद

इतने महान रचनाकार होने के बावजूद प्रेमचंद का जीवन आरोपों से मुक्त नहीं है। प्रेमचंद के अध्येता कमलकिशोर गोयनका ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद–अध्ययन

की नई दिशाएं' में प्रेमचंद के जीवन पर कुछ आरोप लगाकर उनके साहित्य का महत्व कम करने की कोशिश की। प्रेमचंद पर लगे मुख्य आरोप हैं- प्रेमचंद ने अपनी पहली पत्नी को बिना वजह छोड़ा और दूसरे विवाह के बाद भी उनके अन्य किसी महिला से संबंध रहे (जैसा कि शिवरानी देवी ने 'प्रेमचंद घर में' में उद्धृत किया है), प्रेमचंद ने 'जागरण विवाद' में विनोदशंकर व्यास के साथ धोखा किया, प्रेमचंद ने अपनी प्रेस के वरिष्ठ कर्मचारी प्रवासीलाल वर्मा के साथ धोखाघड़ी की, प्रेमचंद की प्रेस में मजदूरों ने हड़ताल की, प्रेमचंद ने अपनी बेटी के बीमार होने पर झाड़-फूंक का सहारा लिया आदि। कमलकिशोर गोयनका द्वारा लगाए गए ये आरोप प्रेमचंद के जीवन का एक पक्ष जरूर हमारे सामने लाते हैं जिसमें उनकी इंसानी कमजोरियों जाहिर होती हैं, लेकिन उनके व्यापक साहित्य के मूल्यांकन पर इन आरोपों का कोई असर नहीं पड़ पाया है। प्रेमचंद्र को लोग आज उनकी काबिलियत की वजह से याद करते हैं, जो विवादों को बहुत कम जगह देती है।

मुंशी के विषय में विवाद

मुंशी प्रेमचंद ने 1898 में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण कर स्थानीय विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गए। मुंशी प्रेमचंद शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हो गए। मुंशी प्रेमचंद का पहला विवाह उन दिनों की परंपरा के अनुसार 15 साल की उम्र में हुआ जो सफल नहीं रहा। 1926 में इन्होंने विधवा विवाह का समर्थन करते हुए बाल विधवा शिवरानी देवी से दूसरा विवाह किया। उनसे तीन संतानें हुई-श्रीपत राय, अमृतराय और कमला देवी। श्रीवास्तव 1910 में उनकी रचना सोजे वतन के लिए हमीरपुर के जिला कलेक्टर ने तलब किया तो जीवन की सभी प्रतियां जब्त कर नष्ट कर दी गई इस समय तक प्रेमचंद नवाब राय नाम से उर्दू में लिखे थे। उर्दू में प्रकाशित होने वाली जमाना पत्रिका के संपादक और उनके दोस्त मुंशी दया नारायण निगम ने उन्हें प्रेमचंद नाम से लिखने की सलाह दी इसके बाद वे प्रेमचंद के नाम से लिखने लगे।

'हंस के संपादक प्रेमचंद तथा कन्हैयालाल मुंशी थे। परन्तु कालांतर में पाठकों ने 'मुंशी' तथा 'प्रेमचंद' को एक समझ लिया और 'प्रेमचंद'- 'मुंशी प्रेमचंद' बन गए। यह स्वाभाविक भी है। सामान्य पाठक प्राय: लेखक की कृतियों को पढ़ता है, नाम की सूक्ष्मता को नहीं देखा करता। आज प्रेमचंद का मुंशी अलंकरण इतना रूढ़ हो गया है कि मात्र 'मुंशी' से ही प्रेमचंद का बोध

हो जाता है तथा 'मुंशी' न कहने से प्रेमचंद का नाम अधूरा-अधूरा सा लगता है।

विरासत

प्रेमचंद ने अपनी कला के शिखर पर पहुँचने के लिए अनेक प्रयोग किए। जिस युग में प्रेमचंद ने कलम उठाई थी, उस समय उनके पीछे ऐसी कोई ठोस विरासत नहीं थी और न ही विचार और प्रगतिशीलता का कोई मॉडल ही उनके सामने था। लेकिन होते-होते उन्होंने गोदान जैसे कालजयी उपन्यास की रचना की जो कि एक आधुनिक क्लासिक माना जाता है। उन्होंने चीजों को खुद गढ़ा और खुद आकार दिया। जब भारत का स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था तब उन्होंने कथा साहित्य द्वारा हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को जो अभिव्यक्ति दी उसने सियासी सरगर्मी को, जोश को और आंदोलन को सभी को उभारा और उसे ताकतवर बनाया और इससे उनका लेखन भी ताकतवर होता गया। प्रेमचंद इस अर्थ में निश्चित रूप से हिंदी के पहले प्रगतिशील लेखक कहे जा सकते हैं। 1936 में उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ के पहले सम्मेलन को सभापति के रूप में संबोधन किया था। उनका यही भाषण प्रगतिशील आंदोलन के घोषणा पत्र का आधार बना। प्रेमचंद ने हिन्दी में कहानी की एक परंपरा को जन्म दिया और एक पूरी पीढ़ी उनके कदमों पर आगे बढ़ी, 50-60 के दशक में रेणु, नागार्जुन और इनके बाद श्रीनाथ सिंह ने ग्रामीण परिवेश की कहानियाँ लिखी हैं, वो एक तरह से प्रेमचंद की परंपरा के तारतम्य में आती हैं। प्रेमचंद एक क्रांतिकारी रचनाकार थे, उन्होंने न केवल देशभक्ति बल्कि समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों को देखा और उनको कहानी के माध्यम से पहली बार लोगों के समक्ष रखा। उन्होंने उस समय के समाज की जो भी समस्याएँ थीं उन सभी को चित्रित करने की शुरुआत कर दी थी। उसमें दलित भी आते हैं, नारी भी आती हैं। ये सभी विषय आगे चलकर हिन्दी साहित्य के बड़े विमर्श बने। प्रेमचंद हिन्दी सिनेमा के सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्यकारों में से हैं। सत्यजित राय ने उनकी दो कहानियों पर यादगार फिल्में बनाईं। 1977 में शतरंज के खिलाड़ी और 1981 में सद्गति। उनके देहांत के दो वर्षों बाद के सुब्रमण्यम ने 1938 में सेवासदन उपन्यास पर फिल्म बनाई जिसमें सुब्बालक्ष्मी ने मुख्य भूमिका निभाई थी। 1977 में मृणाल सेन ने प्रेमचंद की कहानी कफन पर आधारित ओका ऊरी कथा नाम से एक तेलुगू फिल्म बनाई जिसको सर्वश्रेष्ठ तेलुगू फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार

भी मिला। 1963 में गोदान और 1966 में गबन उपन्यास पर लोकप्रिय फिल्में बनीं। 1980 में उनके उपन्यास पर बना टीवी धारावाहिक निर्मला भी बहुत लोकप्रिय हुआ था।

प्रेमचंद संबंधी नए अध्ययन

हिंदी साहित्य व आलोचना में प्रेमचंद को प्रतिष्ठित करने का श्रेय डॉ. रामविलास शर्मा को दिया जाता है, परन्तु यह एक गलत धारणा है। दरअसल एक कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में प्रेमचंद की लोकप्रियता उनके जीवनकाल में ही इतनी ज्यादा थी कि उन्हें 'उपन्यास सम्राट' कहा जाने लगा था। प्रेमचंद को स्थापित करने वाले उनके पाठक थे, आलोचक नहीं। प्रेमचंद के पत्रों को सहेजने का काम अमृतराय और मदनगोपाल ने किया। प्रेमचंद पर हुए नए अध्ययनों में कमलकिशोर गोयनका और डॉ. धर्मवीर का नाम उल्लेखनीय है। कमलकिशोर गोयनका ने प्रेमचंद के जीवन के कमजोर पक्षों को उजागर करने के साथ-साथ प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (दो भाग) व 'प्रेमचंद विश्वकोश' (दो भाग) का संपादन भी किया है। डॉ. धर्मवीर ने दलित दृष्टि से प्रेमचंद साहित्य का मूलयांकन करते हुए प्रेमचंद–सामंत का मुंशी व प्रेमचंद की नीली आँखें नाम से पुस्तकें लिखी हैं।

पुरस्कार व सम्मान

प्रेमचंद की स्मृति में भारतीय डाकतार विभाग की ओर से 30 जुलाई 1980 को उनकी जन्मशती के अवसर पर 30 पैसे मूल्य का एक डाक टिकट जारी किया गया। गोरखपुर के जिस स्कूल में वे शिक्षक थे, वहाँ प्रेमचंद साहित्य संस्थान की स्थापना की गई है। प्रेमचंद की 125वीं सालगिरह पर सरकार की ओर से घोषणा की गई कि वाराणसी से लगे इस गाँव में प्रेमचंद के नाम पर एक स्मारक तथा शोध एवं अध्ययन संस्थान बनाया जाएगा।

9

राममनोहर लोहिया

डॉ. राममनोहर लोहिया (जन्म - मार्च 23, ई.स. 1910 - मृत्यु - 12 अक्टूबर, ई.स. 1967) भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी, प्रखर चिन्तक तथा समाजवादी राजनेता थे।

जीवनवृत्त

आरम्भिक जीवन एवं शिक्षा

डॉ. राममनोहर लोहिया का जन्म 23 मार्च 1910 को उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जनपद में (वर्तमान-अम्बेदकर नगर जनपद) अकबरपुर नामक स्थान में हुआ था। उनके पिताजी श्री हीरालाल पेशे से अध्यापक व हृदय से सच्चे राष्ट्रभक्त थे। ढाई वर्ष की आयु में ही उनकी माताजी (चन्दा देवी) का देहान्त हो गया।। उन्हें दादी के अलावा सरयूदेई, (परिवार की नाईन) ने पाला। टंडन पाठशाला में चौथी तक पढ़ाई करने के बाद विश्वेश्वरनाथ हाईस्कूल में दाखिल हुए।

उनके पिताजी गाँधीजी के अनुयायी थे। जब वे गांधीजी से मिलने जाते तो राम मनोहर को भी अपने साथ ले जाया करते थे। इसके कारण गांधीजी के विराट व्यक्तित्त्व का उन पर गहरा असर हुआ। पिताजी के साथ 1918 में अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन में पहली बार शामिल हुए।

बंबई के मारवाड़ी स्कूल में पढ़ाई की। लोकमान्य गंगाधर तिलक की मृत्यु के दिन विद्यालय के लड़कों के साथ 1920 में पहली अगस्त को हड़ताल की। गांधी जी की पुकार पर 10 वर्ष की आयु में स्कूल त्याग दिया। पिताजी को विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के आंदोलन के चलते सजा हुई। 1921 में फैजाबाद किसान आंदोलन के दौरान जवाहरलाल नेहरू से मुलाकात हुई। 1924 में प्रतिनिधि के रूप में कांग्रेस के गया अधिवेशन में शामिल हुए। 1925 में मैट्रिक की परीक्षा दी। कक्षा में 61 प्रतिशत नंबर लाकर प्रथम आए। इंटर की दो वर्ष की पढ़ाई बनारस के काशी विश्वविद्यालय में हुई। कॉलेज के दिनों से ही खद्दर पहनना शुरू कर दिया। 1926 में पिताजी के साथ गौहाटी कांग्रेस अधिवेशन में गए। 1927 में इंटर पास किया तथा आगे की पढ़ाई के लिए कलकत्ता जाकर ताराचंद दत्त स्ट्रीट पर स्थित पोद्दार छात्र हॉस्टल में रहने लगे। विद्यासागर कॉलेज में दाखिला लिया। अखिल बंग विद्यार्थी परिषद के सम्मेलन में सुभाषचंद्र बोस के न पहुंचने पर उन्होंने सम्मेलन की अध्यक्षता की। 1928 में कलकता में कांग्रेस अधिवेशन में शामिल हुए। 1928 से अखिल भारतीय विद्यार्थी संगठन में सक्रिय हुए। साइमन कमिशन के बहिष्कार के लिए छात्रों के साथ आंदोलन किया। कलकत्ता में युवकों के सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू अध्यक्ष तथा सुभाषचंद्र बोस और लोहिया विषय निर्वाचन समिति के सदस्य चुने गए। 1930 में द्वितीय श्रेणी में बीए की परीक्षा पास की।

यूरोप प्रवास

1930 जुलाई को लोहिया अग्रवाल समाज के कोष से पढ़ाई के लिए इंग्लैंड रवाना हुए। वहाँ से वे बर्लिन गए। विश्वविद्यालय के नियम के अनुसार उन्होंने प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. बर्नर जेम्बार्ट को अपना प्राध्यापक चुना। 3 महीने में जर्मन भाषा सीखी। 12 मार्च 1930 को गांधी जी ने दाण्डी यात्र प्रारंभ की। जब नमक कानून तोड़ा गया तब पुलिस अत्याचार से पीड़ित होकर पिता हीरालाल जी ने लोहिया को विस्तृत पत्र लिखा। 23 मार्च को लाहौर में भगत सिंह को फांसी दिए जाने के विरोध में लीग ऑफ नेशन्स की बैठक में बर्लिन में पहुंचकर सीटी बजाकर दर्शक दीर्घा से विरोध प्रकट किया। सभागृह से उन्हें निकाल दिया गया। भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे बीकानेर के महाराजा द्वारा प्रतिनिधित्व किए जाने पर लोहिया ने रूमानिया की प्रतिनिधि को खुली चिट्ठी लिखकर उसे अखबारों में छपवाकर उसकी कॉपी बैठक में बंटवाई। गांधी इर्विन

समझौते का लोहिया ने प्रवासी भारतीय विद्यार्थियों की संस्था 'मध्य यूरोप हिन्दुस्तानी संघ' की बैठक में संस्था के मंत्री के तौर पर समर्थन किया। कम्युनिस्टों ने विरोध किया। बर्लिन के स्पोटर्स पैलेस में हिटलर का भाषण सुना। 1932 में लोहिया ने नमक सत्याग्रह विषय पर अपना शोध प्रबंध पूरा कर बर्लिन विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की।

स्वदेश आगमन एवं स्वतंत्रता संग्राम

1933 में मद्रास पहुंचे। रास्ते में सामान जब्त कर लिया गया। तब समुद्री जहाज से उतरकर हिन्दु अखबार के दफ्तर पहुंचकर दो लेख लिखकर 25 रुपया प्राप्त कर कलकत्ता गए। कलकत्ता से बनारस जाकर मालवीय जी से मुलाकात की। उन्होंने रामेश्वर दास बिड़ला से मुलाकात कराई जिन्होंने नौकरी का प्रस्ताव दिया, लेकिन दो हफ्ते साथ रहने के बाद लोहिया ने निजी सचिव बनने से इनकार कर दिया। तब पिता जी के मित्र सेठ जमुनालाल बजाज लोहिया को गांधी जी के पास ले गए तथा उनसे कहा कि ये लड़का राजनीति करना चाहता है।

कुछ दिन तक जमुनालाल बजाज के साथ रहने के बाद शादी का प्रस्ताव मिलने पर शहर छोड़कर वापस कलकत्ता चले गए। विश्व राजनीति के आगामी 10 वर्ष विषय पर ढाका विश्वविद्यालय में व्याख्यान देकर कलकत्ता आने-जाने की राशि जुटाई। पटना में 17 मई 1934 को आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में देश के समाजवादी अंजुमन-ए-इस्लामिया हॉल में इकट्ठे हुए, जहां समाजवादी पार्टी की स्थापना का निर्णय लिया गया। यहां लोहिया ने समाजवादी आंदोलन की रूपरेखा प्रस्तुत की। पार्टी के उद्देश्यों में लोहिया ने पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य जोड़ने का संशोधन पेश किया, जिसे अस्वीकार कर दिया गया। 21-22 अक्टूबर 1934 को बम्बई के बर्लि स्थित 'रेडिमनी टेरेस' में 150 समाजवादियों ने इकट्ठा होकर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की। लोहिया राष्ट्रीय कार्यकारणी के सदस्य चुने गए। कांग्रेस सोशलिस्ट सप्ताहिक मुखपत्र के सम्पादक बनाए गए।

गांधी जी के विरोध में जाकर उन्होंने कांउसिल प्रवेश का विरोध किया। गांधी जी ने लोहिया के लेख पर दो पत्र लिखे। 1936 के मेरठ अधिवेशन में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों के लिए पार्टी का दरवाजा खोल दिया। लोहिया बार-बार कम्युनिस्टों के प्रति सचेत रहने की चेतावनी

जयप्रकाश नारायण जी एवं अन्य नेताओं को देते रहे। 1935 में जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जहां लोहिया को परराष्ट्र विभाग का मंत्री नियुक्त किया गया जिसके चलते उन्हें इलाहाबाद आना पड़ा। 1938 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में लोहिया राष्ट्रीय कार्यकारणी के सदस्य चुने गए। उन्होंने कांग्रेस के परराष्ट्र विभाग के मंत्री पद से इस्तीफा दे दिया। 1940 में रामगढ़ कांग्रेस के कम्युनिस्टों को पार्टी से निकालने का निर्णय लिया गया। 1939 में त्रिपुरी कांग्रेस में सुभाष चंद्र बोस को समाजवादियों ने समर्थन किया। डॉ. लोहिया तटस्थ बने रहे। लोहिया ने गांधी जी द्वारा यह कहे जाने पर की बोस का चुनाव मेरी शिकस्त है पर प्रस्ताव पेश करते हुए कहा कि यह प्रस्ताव गांधी जी से सम्मानपूर्वक आह्वान करता है कि उनकी शिकस्त नहीं हुई है। गांधी जी की इच्छानुसार सुभाषचंद्र बोस कार्यसमिति बनाने को तैयार नहीं हुए तथा नेहरू सहित अन्य कांग्रेस के नेताओं ने बोस के साथ कार्यसमिति में रहने से इंकार कर दिया तब बोस ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दिया तथा कांग्रेस से नाता तोड़ लिया।

लोहिया ने महायुद्ध के समय युद्धभर्ती का विरोध, देशी रियासतों में आंदोलन, ब्रिटिश माल जहाजों से माल उतारने व लादने वाले मजदूरों का संगठन तथा युद्धकर्ज को मंजूर तथा अदा न करने, जैसे चार सूत्रीय मुद्दों को लेकर युद्ध विरोधी प्रचार शुरू कर दिया। 1939 के मई महीने में दक्षिण कलकता की कांग्रेस कमेटी में युद्ध विरोधी भाषण करने पर उन्हें 24 मई को गिरफ्तार किया गया। कलकत्ता के चीफ प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट के सामने लोहिया ने स्वयं अपने मुकदमे की पैरवी और बहस की। 14 अगस्त को उन्हें रिहा कर दिया गया। 9 अक्टूबर 1939 को कांग्रेस समिति के बैठक वर्धा में हुई जिसमें लोहिया ने समझौते का विरोध किया। उसी समय उन्होंने शस्त्रों का नाश हो नामक प्रसिद्ध लेख लिखा। 11 मई 1940 को सुल्तानपुर के जिला सम्मेलन में लोहिया ने कांग्रेस से 'सत्याग्रह अभी नहीं' नामक लेख लिखा। गांधी जी ने मूल रूप में लोहिया द्वारा दिए गए चार सूत्रों को स्वीकार किया।

7 जून 1940 को डॉ. लोहिया को 11 मई को दोस्तपुर (सुल्तानपुर) में दिए गए भाषण के कारण गिरफ्तार किया गया। उन्हें कोतवाली में सुल्तानपुर में इलाहाबाद के स्वराज भवन से ले जाकर हथकड़ी पहनाकर रखा गया। 1 जुलाई 1940 को भारत सुरक्षा कानून की धारा 38 के तहत दो साल की सख्त सजा हुई। सजा सुनाने के बाद उन्हें 12 अगस्त को बरेली

जेल भेज दिया गया। 15 जून 1940 को गांधी जी ने 'हरिजन' में लिखा, कि 'मैं युद्ध को गैर कानूनी मानता हूं किन्तु युद्ध के खिलाफ मेरे पास कोई योजना नहीं है, इस वास्ते मैं युद्ध से सहमत हूं।' 25 अगस्त को गांधी जी ने लिखा कि श्लोहिया और दूसरे कांग्रेस वालों की सजाएं हिन्दुस्तान को बांधने वाली जंजीर को कमजोर बनाने वाले हथौडे के प्रहार हैं। सरकार कांग्रेस को सिविल-नाफरमानी आरंभ करने और आखिरी प्रहार करने के लिए प्रेरित कर रही है। यद्यपि कांग्रेस उसे उस दिन तक के लिए स्थगित करना चाहती है जब तक इंग्लैंड मुसीबत में हो।' गांधी जी ने बंबई में कहा, कि 'जब तक डॉ. राममनोहर लोहिया जेल में है तब तक मैं खामोश नहीं बैठ सकता, उनसे ज्यादा बहादुर और सरल आदमी मुझे मालूम नहीं। उन्होंने हिंसा का प्रचार नहीं किया जो कुछ किया है उनसे उनका सम्मान बढ़ता है।' 4 दिसम्बर 1941 को अचानक लोहिया को रिहा कर दिया गया तथा देश के अन्य जेलों में बंद कांग्रेस के नेताओं को छोड़ दिया गया। 19 अप्रैल 1942 को हरिजन में लोहिया का लेख 'विश्वासघाती जापान या आत्मसंतुष्ट ब्रिटेन' गांधी जी द्वारा प्रकाशित किया गया। गांधी जी ने टिप्पणी की कि मेरी उम्मीद है कि सभी संबंधित इसके प्रति ध्यान देंगे।

सन् 1942 में इलाहाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, जहां लोहिया ने खुलकर नेहरू का विरोध किया। इसके बाद अल्मोड़ा जिला सम्मेलन में लोहिया ने 'नेहरू को झट पलटने वाला नट' कहा। गांधी जी के साथ एक सप्ताह रहकर लोहिया ने गांधी जी को वाइसराय के नाम पत्र लिखने के लिए प्रेरित किया। जिसमें गांधी जी ने लिखा कि अहिंसानिष्ट सोशलिस्ट डॉ. लोहिया ने भारतीय शहरों को बिना पुलिस व फौज के शहर घोषित करने की कल्पना निकाली है। लोहिया जी के द्वारा दुनिया की सभी सरकारों को नई दुनिया की बुनियाद बनाने की योजना की कल्पना गांधी जी के सामने रखी गई, जिसमें एक देश की दूसरे देश में जो पूंजी लगी है उसे जब्त करना, सभी लोगों को संसार में कहीं भी आने-जाने व बसने का अधिकार देना, दुनिया के सभी राष्ट्रों को राजनैतिक आजादी तथा विश्व नागरिकता की बात कही गई थी। गांधी जी ने इसे हरिजन में छापा और अपनी ओर से समर्थन भी किया तथा अंग्रेजों के खिलाफ जल्दी लड़ाई छेड़ने को लेकर गांधी जी ने दस दिन रूकने के लिए लोहिया को कहा। दस दिन बाद 7 अगस्त 1942 को गांधीजी ने तीन घंटे तक भाषण देकर कहा, कि 'हम अपनी आजादी लड़कर प्राप्त

करेंगे।' अगले दिन 8 अगस्त को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव बंबई में बहुमत से स्वीकृत हुआ। गांधी जी ने करो या मरो का संदेश दिया।

भारत छोड़ो आन्दोलन

9 अगस्त 1942 को जब गांधी जी व अन्य कांग्रेस के नेता गिरफ्तार कर लिए गए, तब लोहिया ने भूमिगत रहकर 'भारत छोड़ो आंदोलन' को पूरे देश में फैलाया। लोहिया, अच्युत पटवर्धन, सादिक अली, पुरूषोत्तम टिकरम दास, मोहनलाल सक्सेना, रामनन्दन मिश्रा, सदाशिव महादेव जोशी, साने गुरूजी, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, अरूणा आसिफअली, सुचेता कृपलानी और पूर्णिमा बनर्जी आदि नेताओं का केन्द्रीय संचालन मंडल बनाया गया। लोहिया पर नीति निर्धारण कर विचार देने का कार्यभार सौंपा गया। भूमिगत रहते हुए 'जंग जू आगे बढ़ो, क्रांति की तैयारी करो, आजाद राज्य कैसे बने' जैसी पुस्तिकाएं लिखीं। 20 मई 1944 को लोहिया जी को बंबई में गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तारी के बाद लाहौर किले की एक अंधेरी कोठरी में रखा गया जहां 14 वर्ष पहले भगत सिंह को फांसी दी गई थी। पुलिस द्वारा लगातार उन्हें यंत्रणा दी गई, 15-15 दिन तक उन्हें सोने नहीं दिया जाता था। किसी से मिलने नहीं दिया गया 4 महीने तक ब्रूश या पेस्ट तक भी नहीं दिया गया।

हर समय हथकड़ी बांधे रखी जाती थी। लाहौर के प्रसिद्ध वकील जीवनलाल कपूर द्वारा हैबियस कारपस की दरखास्त लगाने पर उन्हें तथा जयप्रकाश नारायण को स्टेट प्रिजनर घोषित कर दिया गया। मुकदमे के चलते सरकार को लोहिया को पढ़ने-लिखने की सुविधा देनी पड़ी। पहला पत्र लोहिया ने ब्रिटिश लेबर पार्टी के अध्यक्ष प्रो. हेराल्ड जे. लास्की को लिखा जिसमें उन्होंने पूरी स्थिति का विस्तृत ब्यौरा दिया। 1945 में लोहिया को लाहौर से आगरा जेल भेज दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने पर गांधी जी तथा कांग्रेस के नेताओं को छोड़ दिया गया। केवल लोहिया व जयप्रकाश ही जेल में थे। इसी बीच अंग्रेजों की सरकार और कांग्रेस की बीच समझौते की बातचीत शुरू हो गई। इंग्लैंड में लेबर पार्टी की सरकार बन गई सरकार का प्रतिनिधि मंडल डॉ. लोहिया से आगरा जेल में मिलने आया। इस बीच लोहिया के पिता हीरालाल जी की मृत्यु हो गई। किन्तु लोहिया जी ने सरकार की कृपा पर पेरोल पर छूटने से इंकार कर दिया।

गोवा मुक्ति आन्दोलन

11 अप्रैल 1946 को लोहिया को आगरा जेल से रिहा कर दिया गया। 15 जून को लोहिया ने गोवा के पंजिम में 'गोवा मुक्ति आंदोलन' की पहली सभा ली। लोहिया को 18 जून को गोवा मुक्ति आंदोलन के शुरूआत के दिन ही गिरफ्तार कर लिया गया। 14 अगस्त 1946 को 'हरिजन' में गांधी जी ने लिखा कि, लोहिया को बधाई दी जानी चाहिए। 30 दिसम्बर 1946 को नवाखली में हिन्दु और मुसलमान के बीच के अविश्वास को दूर करने में गांधी जी के साथ विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया। पूरे साल नवाखली, कलकत्ता, बिहार, दिल्ली सभी जगह लोहिया गांधी जी के साथ मिलकर साम्प्रदायिकता की आग को बुझाने की कोशिश करते रहे। 9 अगस्त 1947 से लगातार हिंसा रोकने का प्रयास चलता रहा। 14 अगस्त की रात को हिन्दु-मुस्लिम भाई-भाई के नारों के साथ लोहिया ने सभा की। 31 अगस्त को वातावरण फिर बिगड़ गया, गांधी जी अनशन पर बैठ गए तब लोहिया ने दंगाईयों के हथियार इकट्ठे कराए। लोहिया के प्रयास से शांति समिति की स्थापना हुई तथा 4 सितम्बर को गांधी जी ने अनशन तोड़ा। 29 सितम्बर को बेलगांव में लोहिया को फिर गिरफ्तार कर लिया गया। 26, 27, 28 फरवरी 1947 को सोशलिस्ट पार्टी की कार्यकारिणी की बैठक में तटस्थ रहने का निर्णय लिया गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद

जनवरी 1947 में लोहिया ने नेपाली राष्ट्रीय कांग्रेस को स्थापित करने तथा राणाशाही के विरुद्ध सत्याग्रह प्रारंभ करने की पहल की। 25 जनवरी 1948 को बंबई हड़ताल को लेकर लोहिया जी ने गांधी जी से हड़ताल का समर्थन मांगा। 28 जनवरी को गांधी जी ने कहा कि कल आना, कल पेट भर की बात होगी। 30 जनवरी को लोहिया जब बिड़ला भवन के लिए निकले तब उन्हें गांधी जी की हत्या की खबर सुनने को मिली। मार्च 1948 में नासिक सम्मेलन में सोशलिस्ट दल ने कांग्रेस से अलग होने का निश्चय किया। लोहिया की प्रेरणा से रियासतों की समाप्ति का आंदोलन 650 रियासतों में समाजवादी चला रहे थे। 2 जनवरी 1948 को रीवा में 'हमें चुनाव चाहिए विभाजन रद्द करो' के नारे के साथ आंदोलन किया गया जिसमें पुलिस ने गोली चलाई। 4 आंदोलनकारी शहीद हुए। 1949 को सोशलिस्ट पार्टी द्वारा लोहिया के नेतृत्व में नेपाली कांग्रेस के पूर्व

अध्यक्ष विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला के आमरण अनशन तथा नेपाल में राणाशाही के अत्याचार के खिलाफ सभा की गई। नेपाली दूतावास की ओर जब जुलूस बढ़ा तब लाठी चार्ज किया गया लोहिया को गिरफ्तार किया गया। 20 जून को देश भर में लोहिया दिवस मनाया गया। मुकदमे में दो महीने की कैद हुई। 3 जुलाई को उन्हें रिहा कर दिया गया।

सन् 1949 में पटना में सोशलिस्ट पार्टी का दूसरा राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसी सम्मेलन में लोहिया ने 'चौखंभा राज्य' की कल्पना प्रस्तुत की। पटना में 'हिन्द किसान पंचायत' की स्थापना भी हुई जिसका अध्यक्ष लोहिया को चुना गया। 25 नवम्बर 1949 को लखनऊ में एक लाख किसानों ने विशाल प्रदर्शन किया। 26 फरवरी 1950 को रीवा में 'हिन्द किसान पंचायत' का पहला राष्ट्रीय अधिवेशन हुआ। दिल्ली में 3 जून 1951 को जनवाणी दिवस पर प्रदर्शन किया गया। 'रोजी-रोटी कपड़ा दो नहीं तो गद्दी छोड़ दो', प्रदर्शनकारियों का मुख्य नारा था। 14 जून 1951 को सागर स्टेशन में लोहिया को गिरफ्तार कर बेंगलूर के हवालात में बंद कर दिया गया। 3 जुलाई को लोहिया छूटे। 24 जुलाई को वे विश्व सरकार के समर्थकों के सम्मेलन में स्वीडन की राजधानी स्टॉकहोम गए 17 साल बाद वे पुनः बर्लिन पहुंचे। लोहिया इंग्लैंड, पश्चिम अफ्रीका, दक्षिण पश्चिम एशिया के कई देशों में गएय इस्रायल से होकर 15 नवम्बर को स्वेदश लौटे।

1951 में लोहिया को 3 जुलाई को समाजवादियों के अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में बुलाया गया। सम्मेलन में जर्मनी, युगोस्लाविया, अमेरिका, हवाई, जापान, हांगकांग, थाईदेश, सिंगापुर मलाया, इंडोनेशिया तथा लंका भी गए। लोहिया विश्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टन से प्रिंसटन में मिले। आइंस्टीन ने कहा, कि 'किसी मनुष्य से मिलना कितना अच्छा होता है आदमी कितना अकेला पड़ जाता है।' लोहिया ने अमरीका में सैकड़ों स्थानों पर भाषण किए। उस समय उन्होंने एशिया की समस्त सोशलिस्ट पार्टियों का संगठन निर्मित करने का विचार बनाया। 25 मार्च से 29 मार्च 1952 में एशियाई सोशलिस्ट कान्फ्रेंस हुई, लेकिन इसमें लोहिया शामिल नहीं हो सके। जयप्रकाश नरायण भारतीय प्रतिनिधिमंडल के नेता बन कर रंगून गए।

मई 1952 में पंचमढ़ी में सोशलिस्ट पार्टी का सम्मेलन हुआ। आम चुनाव में हार के बाद लोहिया ने चुनावों की पराजय की शव परीक्षा के बदले ठोस विचारों की ओर पार्टी को ले जाने का विचार दिया। गुजरात पार्टी

सम्मेलन में इतिहास चक्र की नई व्याख्या लोहिया द्वारा प्रस्तुत की गई। 24-25 सितम्बर 1952 में सोशलिस्ट पार्टी की जनरल कौंसिल बैठक में किसान-मजदूर प्रजा पार्टी और सोशिलिस्ट पार्टी के विलय का निर्णय लिया गया। इस तरह प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। 29 से 31 दिसम्बर 1953 को प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का पहला सम्मेलन इलाहाबाद में हुआ। वहां लोहिया ने इलाहाबाद थीसिस प्रस्तुत की। लोहिया को उनके मना करने के बावजूद पार्टी का राष्ट्रीय महामंत्री चुना गया। 13-14 मई 1954 को उत्तर प्रदेश प्रजा सोशलिस्ट पार्टी द्वारा नहर रेट की बढ़ोतरी के खिलाफ आंदोलन शुरू किया गया। 4 जुलाई 1954 को फारूखाबाद में वाणी स्वतंत्रता के संघर्ष को लेकर भाषण दिए जाने के कारण गिरफ्तार किया गया। नागपुर में 26-28 नवम्बर 1954 के बीच केरल गोली कांड पर विचार करने के लिए सम्मेलन हुआ। लोहिया केरल मंत्रीमंडल से इस्तीफा मांग चुके थे। 31 दिसम्बर 1955 तथा 1 जनवरी 1956 को सोशलिस्ट पार्टी का स्थापना हुई। लखनऊ में लोहिया के नेतृत्व में एक लाख किसानों का प्रदर्शन हुआ। 1956 में लोहिया ने 'मैनकाइंड' नामक पत्रिका शुरू की। सोशिलिस्ट पार्टी का प्रथम वार्षिक अधिवेशन भारत के मध्य बिंदु मध्यप्रदेश के ग्राम सिहोरा में 28, 29, 30 दिसम्बर 1956 को हुआ। 2 नवम्बर 1957 को लोहिया क्रिमनल लॉ एमेंडमेंड एक्ट की धारा 7 की तहत डाकिए से कुछ कहने पर अकारण गिरफ्तार कर लिया गया। 12 नवम्बर 1958 को लोहिया पूर्वोतर के दौरे पर निकले, जहां उन्हें दौरा करने से रोक दिया गया।

एक साल बाद फिर उसी स्थान उर्वसियम (नेफा) से लोहिया ने पूर्वोत्तर में प्रवेश किया, जहां उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। 17 अप्रैल 1960 को कानुपर के सर्किट हाउस में अनाधिकृत प्रवेश करने के कारण अपराध बताकर उन्हें पुनः गिरफ्तार किया गया। 1961 में अंग्रेजी हटाओ आंदोलन के दौरान लोहिया की सभा पर मद्रास में पत्थर बरसाये गए। 1961 में लोहिया एथेंस, रोम और काहिरा गए। 1962 में चुनाव हुआ लोहिया नेहरू के विरुद्ध फूलपुर में चुनाव मैदान में उतरे। 11 नवम्बर 1962 को कलकत्ता में सभा कर लोहिया ने तिब्बत के सवाल को उठाया। 1963 के फारूखाबाद के लोकसभा उपचुनाव में लोहिया 58 हजार मतों से चुनाव जीते। लोकसभा में लोहिया की तीन आना बनाम पन्द्रह आना की बहस अत्यंत चर्चित रही, जिसमें उन्होंने 18 करोड़ आबादी के चार आने पर जिंदगी काटने तथा प्रधानमंत्री पर 25 हजार रुपए प्रतिदिन खर्च करने का आरोप

लगाया। 9 अगस्त 1965 को लोहिया को भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया।

अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन

लोहिया जानते थे कि विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में अंग्रेजी का प्रयोग आम जनता की प्रजातंत्र में शत–प्रतिशत भागीदारी के रास्ते का रोड़ा है। उन्होंने इसे सामंती भाषा बताते हुए इसके प्रयोग के खतरों से बारंबार आगाह किया और बताया कि यह मजदूरों, किसानों और शारीरिक श्रम से जुड़े आम लोगों की भाषा नहीं है। उन्होंने लिखा–

यदि सरकारी और सार्वजनिक काम ऐसी भाषा में चलाये जाएं, जिसे देश के करोड़ों आदमी न समझ सकें, तो यह केवल एक प्रकार का जादू–टोना होगा।

दुख की बात है कि लोहिया के अंग्रेजी हटाओ आंदोलन (1957) को हिंदी का वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश के तौर पर देखा गया, जबकि लोहिया ने बार–बार यह स्पष्ट किया कि अंग्रेजी हटाओ का अर्थ हिंदी लाओ कदापि नहीं है। उन्होंने क्षेत्रीय भाषाओं की उन्नति और उनके प्रयोग की खुल कर वकालत की। उनके अनुसार अंग्रेजी हटाओ का अर्थ 'मातृभाषा लाओ' था।

भारतीय राजनीति का बेबाक और बिंदास चेहरा रहे राममनोहर लोहिया ने 50 के दशक में ही भांप लिया था। उन्होंने लोकसभा में बल देकर अपनी बात रखते हुए कहा था–

अंग्रेजी को खत्म कर दिया जाए। मैं चाहता हूं कि अंग्रेजी का सार्वजनिक प्रयोग बंद हो, लोकभाषा के बिना लोक राज्य असंभव है। कुछ भी हो अंग्रेजी हटनी ही चाहिये, उसकी जगह कौन सी भाषाएं आती हैं यह प्रश्न नहीं है। हिन्दी और किसी भाषा के साथ आपके मन में जो आए सो करें, लेकिन अंग्रेजी तो हटना ही चाहिये और वह भी जल्दी। अंग्रेज गये तो अंग्रेजी चली जानी चाहिये।

देहावसान

30 सितम्बर 1967 को लोहिया को नई दिल्ली के विलिंग्डन अस्पताल अब जिसे लोहिया अस्पताल कहा जाता है को पौरूष ग्रंथि के आपरेशन के लिए भर्ती किया गया जहां 12 अक्टूबर 1967 को उनका देहांत 57 वर्ष की आयु में हो गया।

गैर-कांग्रेसवाद के शिल्पी

देश में गैर-कांग्रेसवाद की अलख जगाने वाले महान स्वतंत्रता सेनानी और समाजवादी नेता राम मनोहर लोहिया चाहते थे कि दुनियाभर के सोशलिस्ट एकजुट होकर मजबूत मंच बनाए। लोहिया भारतीय राजनीति में गैर कांग्रेसवाद के शिल्पी थे और उनके अथक प्रयासों का फल था कि 1967 में कई राज्यों में कांग्रेस की पराजय हुई, हालांकि केंद्र में कांग्रेस जैसे-तैसे सत्ता पर काबिज हो पायी। हालांकि लोहिया 1967 में ही चल बसे लेकिन उन्होंने गैर कांग्रेसवाद की जो विचारधारा चलायी उसी की वजह से आगे चलकर 1977 में पहली बार केंद्र में गैर कांग्रेसी सरकारी बनी। लोहिया मानते थे कि अधिक समय तक सत्ता में रहकर कांग्रेस अधिनायकवादी हो गयी थी और वह उसके खिलाफ संघर्ष करते रहे।

जैसी कथनी वैसी करनी

लोहिया के समाजवादी आंदोलन की संकल्पना के मूल में अनिवार्यतः विचार और कर्म की उभय उपस्थिति थी- जिसके मूर्तिमंत स्वरूप स्वयं डॉ. लोहिया थे और आजन्म उन्होंने 'कर्म और विचार' की इस संयुक्ति को अपने आचरण से जीवन्त उदाहरण भी प्रस्तत किया।

अंग्रेजों के खिलाफ भारत के स्वाधीनता आंदोलन में भाग लेने वाले तमाम व्यक्तित्त्वों की भांति लोहिया प्रभावित भी थे। वे जेल भी गए और ऐसी यातनाएं भी सहीं। आजादी से पूर्व ही कांग्रेस के भीतर उनका सोशलिस्ट ग्रुप था, लेकिन पंद्रह अगस्त सैंतालिस को अंग्रेजों से मुक्ति पाने पर वे उल्लसित तो थे लेकिन विभाजन की कीमत पर पाई गई इस स्वतंत्रता के कारण नेहरू और नेहरू की कांग्रेस से उनका रास्ता हमेशा के लिए अलग हो गया। स्वतंत्रता के नाम पर सत्ता की लिप्सा का यह खुला खेल लोहिया ने अपनी नंगी आंखों से देखा था और इसीलिए स्वतंत्रता के बाद की कांग्रेस पार्टी और कांग्रेसियों के प्रति उनमें इतना रोष और क्षोभ था कि उन्हें धुर दक्षिणपंथी और वामपंथियों दोनों को साथ लेना भी उन्हें बेहतर विकल्प ही प्रतीत हुआ।

मौलिक एवं ठेठ देसी चिन्तक

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के राजनेताओं में लोहिया मौलिक विचारक थे। लोहिया के मन में भारतीय गणतंत्र को लेकर ठेठ देसी सोच थी। अपने इतिहास,

अपनी भाषा के सन्दर्भ में वे कतई पश्चिम से कोई सिद्धांत उधार लेकर व्याख्या करने को राजी नहीं थे। सन् 1932 में जर्मनी से पीएचडी की उपाधि प्राप्त करने वाले राममनोहर लोहिया ने साठ के दशक में देश से अंग्रेजी हटाने का जो आह्वान किया। अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन की गणना अब तक के कुछ इने गिने आंदोलनों में की जा सकती है। उनके लिए स्वभाषा राजनीति का मुद्दा नहीं बल्कि अपने स्वाभिमान का प्रश्न और लाखों–करोड़ों को हीन ग्रंथि से उबरकर आत्मविश्वास से भर देने का स्वप्न था– ''मैं चाहूंगा कि हिंदुस्तान के साधारण लोग अपने अंग्रेजी के अज्ञान पर लजाएं नहीं, बल्कि गर्व करें। इस सामंती भाषा को उन्हीं के लिए छोड़ दें जिनके मां बाप अगर शरीर से नहीं तो आत्मा से अंग्रेज रहे हैं।''

हालांकि लोहिया भी जर्मनी यानी विदेश से पढ़ाई कर के आए थे, लेकिन उन्हें उन प्रतीकों का अहसास था जिनसे इस देश की पहचान है। शिवरात्रि पर चित्रकूट में रामायण मेला उन्हीं की संकल्पना थी, जो सौभाग्य से अभी तक अनवरत चला आ रहा है। आज भी जब चित्रकूट के उस मेले में हजारों भूखे नंगे निर्धन भारतवासियों की भीड़ स्वयमेव जुटती है तो लगता है कि ये ही हैं जिनकी चिंता लोहिया को थी, लेकिन आज इनकी चिंता करने के लिए लोहिया के लोग कहां हैं?

राजनीतिक शुचिता के पक्षधर

लोहिया ही थे जो राजनीति की गंदी गली में भी शुद्ध आचरण की बात करते थे। वे एकमात्र ऐसे राजनेता थे जिन्होंने अपनी पार्टी की सरकार से खुलेआम त्यागपत्र की मांग की, क्योंकि उस सरकार के शासन में आंदोलनकारियों पर गोली चलाई गई थी। ध्यान रहे स्वाधीन भारत में किसी भी राज्य में यह पहली गैर कांग्रेसी सरकार थी– ''हिंदुस्तान की राजनीति में तब सफाई और भलाई आएगी जब किसी पार्टी के खराब काम की निंदा उसी पार्टी के लोग करें।....और मैं यह याद दिला दूं कि मुझे यह कहने का हक है कि हम ही हिंदुस्तान में एक राजनीतिक पार्टी हैं जिन्होंने अपनी सरकार की भी निंदा की थी और सिर्फ निंदा ही नहीं की बल्कि एक मायने में उसको इतना तंग किया कि उसे हट जाना पड़ा।

कर्मवीर

लोहिया जी केवल चिन्तक ही नहीं, एक कर्मवीर भी थे। उन्होने अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक आन्दोलनों का नेतृत्व किया। सन 1942

में भारत छोड़ो आन्दोलन के समय उषा मेहता के साथ मिलकर उन्होने गुप्त रेडियो स्टेशन चलाया। 18 जून 1946 को गोआ को पुर्तगालियों के आधिपत्य से मुक्ति दिलाने के लिये उन्होने आन्दोलन आरम्भ किया। अंग्रेजी को भारत से हटाने के लिये उन्होने अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन चलाया।

सप्त क्रान्तियाँ

लोहिया अनेक सिद्धान्तों, कार्यक्रमों और क्रांतियों के जनक हैं। वे सभी अन्यायों के विरुद्ध एक साथ जेहाद बोलने के पक्षपाती थे। उन्होंने एक साथ सात क्रांतियों का आह्वान किया। वे सात क्रान्तियां ये थीं–

(1) नर–नारी की समानता के लिए क्रान्ति,

(2) चमड़ी के रंग पर रची राजकीय, आर्थिक और दिमागी असमानता के खिलाफ क्रान्ति,

(3) संस्कारगत, जन्मजात जातिप्रथा के खिलाफ और पिछड़ों को विशेष अवसर के लिए क्रान्ति,

(4) परदेसी गुलामी के खिलाफ और स्वतन्त्रता तथा विश्व लोक–राज के लिए क्रान्ति,

(5) निजी पूँजी की विषमताओं के खिलाफ और आर्थिक समानता के लिए तथा योजना द्वारा पैदावार बढ़ाने के लिए क्रान्ति,

(6) निजी जीवन में अन्यायी हस्तक्षेप के खिलाफ और लोकतंत्री पद्धति के लिए क्रान्ति,

(7) अस्त्र–शस्त्र के खिलाफ और सत्याग्रह के लिये क्रान्ति।

इन सात क्रांतियों के सम्बन्ध में लोहिया ने कहा–

मोटे तौर से ये हैं सात क्रांन्तियाँ। सातों क्रांतियां संसार में एक साथ चल रही हैं। अपने देश में भी उनको एक साथ चलाने की कोशिश करना चाहिए। जितने लोगों को भी क्रांति पकड़ में आयी हो उसके पीछे पड़ जाना चाहिए और बढ़ाना चाहिए। बढ़ाते–बढ़ाते शायद ऐसा संयोग हो जाये कि आज का इन्सान सब नाइन्साफियों के खिलाफ लड़ता–जूझता ऐसे समाज और ऐसी दुनिया को बना पाये कि जिसमें आन्तरिक शांति और बाहरी या भौतिक भरा–पूरा समाज बन पाये।

भारत-विभाजन पर लोहिया के विचार

उस समय की तमाम ऐसी घटनाओं और स्थितियों का जिनके प्रति एक आम भारतीय नागरिक के मन में बहुत स्पष्ट और तार्किक व्याख्या नहीं है, लोहिया ने अपनी पुस्तक 'गिल्टी मैन एंड इंडियाज पार्टीशन' (भारत विभाजन के गुनहगार) में परद दर परत रहस्यों को खोला है। लेकिन हमारा दुर्भाग्य है कि उस समय के पूरे आंखों देखे इतिहास को ही नहीं, बल्कि उसके एक सक्रिय, जीवंत पात्र रहे लोहिया की बातों को आजाद भारत में सत्तारूढ़ दल द्वारा एक विपक्षी नेता की 'खीझ' से ज्यादा नहीं समझने दिया गया, जबकि सच्चाई यह है कि सत्ता हस्तांतरण के खेल की असलियत संग्रहालयों में दफन दस्तावेजों से ज्यादा लोहिया जैसे नेताओं को भी मालूम थी जिसे होते हुए उन्होंने अपनी आंखों से देखा था।

लेखन

1997 में भारत सरकार ने लोहिया की स्मृति में डाकटिकट निकाला

डॉ राममनोहर लोहिया ने अनेकों विषयों पर अपने विचार लेख एवं पुस्तकों के रूप में प्रकाशित कीं। उनकी कुछ रचनाएँ हैं-

अंग्रेजी हटाओ
इतिहास चक्र
देश, विदेश नीति-कुछ पहलू
धर्म पर एक दृष्टि
भारतीय शिल्प
भारत विभाजन के गुनहगार
मार्क्सवाद और समाजवाद
राग, जिम्मेदारी की भावना, अनुपात की समझ
समलक्ष्य, समबोध
समदृष्टि
सच, कर्म, प्रतिकार और चरित्र निर्माण आह्वान
समाजवादी चिंतन
संसदीय आचरण
संपूर्ण और संभव बराबरी और दूसरे भाषण
हिंदू बनाम हिंदू

10

अरुण माहेश्वरी

अरुण माहेश्वरी (जन्म–4 जून 1951) एक हिन्दी साहित्यकार, मार्क्सवादी आलोचक, सामाजिक–आर्थिक विषयों पर टिप्पणीकार एवं पत्रकार हैं।

जीवन

विज्ञान में स्नातक के बाद दो वर्षों तक कोलकाता विश्वविद्यालय की सीढियों पर कानून की पढ़ाई के लिये चहलकदमी। छात्र जीवन से ही मार्क्सवादी राजनीति और साहित्य–आंदोलन से जुड़ाव और सीपीआई(एम) के मुखपत्र 'स्वाधीनता' से संबद्ध। साहित्यिक पत्रिका 'कलम' का संपादन किया।

माहेश्वरी हिन्दी भाषा के एक प्रमुख प्रकाशन संस्थान वाणी प्रकाशन के मालिक हैं जिसकी स्थापना उनके पिता प्रेम चंद महेश ने की थी।

कृतियाँ

अब तक प्रकाशित पुस्तकें–

साहित्य में यथार्थ–सिद्धांत और व्यवहार

आरएसएस और उसकी विचारधारा

नई आर्थिक नीति–कितनी नई

कला और साहित्य के सौंदर्यशास्त्रीय मानदंड

जगन्नाथ (अनुदित नाटक)

पश्चिम बंगाल में मौन क्रांति
पाब्लो नेरुदा–एक कैदी की खुली दुनिया
एक और ब्रह्मांड,
सिरहाने ग्राम्शी,
हरीश भादानी,
धर्म, संस्कृति और राजनीति,
समाजवाद की समस्याएं।

11

दामोदर धर्मानंद कोसांबी

दामोदर धर्मानंद कोसांबी (जन्म– 31 जुलाई, 1907, गोवा, मृत्यु– 29 जून, 1966) भारत के प्रसिद्ध विद्वान, भाषा–वैज्ञानिक और गणितज्ञ थे। गणित के अतिरिक्त भारत के इतिहास और संस्कृति में भी इनका अतुलनीय योगदान रहा है। दामोदर धर्मानंद जी ने सोलह वर्षों तक 'टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च' में अपनी सेवाएँ दी थीं। होमी भाभा के साथ अपने कुछ विवादों के चलते इन्हें संस्थान से हटा दिया गया था। इन्होंने कुछ ग्रंथ भी लिखे थे, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

जीवन परिचय

दामोदर धर्मानंद कोसांबी का जन्म 31 जुलाई, 1907 ई. को गोवा में हुआ था। धर्मानंद प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान, भाषा–वैज्ञानिक और गणितज्ञ माने जाते थे। इनके पिता बौद्ध धर्म के प्रकांड विद्वान् थे और आस–पास के क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध थे।

शिक्षा

धर्मानंद कोसांबी अमेरिका के 'हारवर्ड विश्वविद्यालय' में अध्यापक थे। अतः उनकी सारी शिक्षा अमेरिका में हुई थी। उनके अध्यन के मुख्य विषय थे– गणित, इतिहास और भाषा विज्ञान। शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने कुछ वर्षों

तक 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' और 'अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय' में अध्यापन किया और उसके बाद 1932 में गणित के प्रोफेसर बनकर पूना के 'फर्ग्यूसन कॉलेज' चले गए। 1946 में उन्हें 'टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च' में आमंत्रित किया गया, जहाँ वे 16 वर्ष तक काम करते रहे।

योगदान

गणित के अतिरिक्त दामोदर धर्मानंद का उल्लेखनीय योगदान प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के क्षेत्र में भी रहा। उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की भी रचना की थी, जिनमें से प्रमुख हैं–

'मिथ एंड रियलिटी'

'स्टडीज इन द फार्मेशन ऑफ इंडियन कल्चर'

'द कल्चर एंड सिविलाइजेशन ऑफ एंशेंट इंडिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन'।

दामोदर धर्मानंद जी ने पश्चिम के इतिहासकारों की इस स्थापना का तर्कपूर्ण खंडन किया कि भारत की पुरानी सभ्यता बाहरी प्रभाव का परिणाम है। उनकी मान्यता थी कि भारत की अपनी आंतरिक परिस्थितियों का परिणाम था।

भाभा से मतभेद

पंडित जवाहरलाल नेहरू के प्रिय पात्र होमी जहाँगीर भाभा के साथ मतभेद के कारण प्रखर वैज्ञानिक चिन्तक, गणितज्ञ, समाजशास्त्री और इतिहासकार दामोदर धर्मानंद कोसांबी का 'टी.आई.एफ.आर' में रहते हुए भारत के सन्दर्भ में परमाणु ऊर्जा की तुलना में सौर ऊर्जा को श्रेष्ठ ठहराने का मुखर और घोषित तर्क था। अपने इसी विश्वास के चलते उन्हें होमी भाभा ने अपने संस्थान से हटा दिया था। दामोदर धर्मानंद जी के उठाये मुद्दों पर बाद में भी शासन द्वारा अक्सर सवालों को यथा संभव दबाया गया और ऊर्जा के वैकल्पिक साधनों की अनदेखी की गयी।

पुरुरवा-उर्वशी और कोसांबी

1951 में दामोदर धर्मानंद कोसांबी ने उर्वशी–पुरुरवा प्रसंग से संबंधित 18 ऋग्वैदिक ऋचाओं को रोमन लिपि में प्रकाशित किया और साथ में सरसरी टिप्पणी के साथ इनका शब्दानुवाद भी दिया। ठीक यहीं से शुरू हुई उनकी खोज

का नतीजा था इसके दस साल बाद आई उनकी कालजयी कृति 'मिथ ऐंड रियलिटी' का दूसरा अध्याय 'उर्वशी ऐंड पुरुरवस'। अध्याय की शुरुआत कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशीयम' के सार-संक्षेप की प्रस्तुति से होती है, जिसमें उर्वशी को इंद्र के दरबार की नर्तकी माना गया है। नृत्य के समय उर्वशी के मुंह से इंद्र के लिए 'पुरुषोत्तम' की बजाय गलती से 'पुरुरवस' निकल जाने के एवज में उसे मृत्युलोक जाने की सजा सुनाई जाती है। यहां मात्र एक साल में समाप्त हो जाने के लिए अभिशप्त उर्वशी और पुरुरवा का प्रेम इस नाटक की जटिल कथावस्तु का आधार बनता है। इस किस्से का सार-संक्षेप प्रस्तुत करके कोसांबी सीधे शतपथ ब्राह्मण, और वहां से ऋग्वेद की तरफ मुड़ जाते हैं, जो उर्वशी के मिथक का उद्गम स्रोत है।

भारत में बौद्ध धर्म की क्षय

ईसा पूर्व 1750 के आस-पास आर्य भाषा-भाषी कबीले भारत आने लगे और यहाँ बसने लगे। आर्य भाषी कबीलों का धर्म प्रकृति शक्ति के देवताओं पर आधारित था और यह धर्म भारत का भी धर्म बन गया। ईसा पूर्व 800-900 के आसपास लोहे के हल से खेती शुरू हुई, और ईसा पूर्व 500 के आसपास जैन और बौद्ध धर्म नए धर्म के रूप में पैदा किए गए जो आर्य धर्म से अलग थे। बौद्ध धर्म पूरे देश में फैल गया, और देश से बाहर चीन, जापान, बर्मा, दक्षिणपूर्व एशिया से इन्डोनेशिया तक फैल गया। चन्द्रगुप्त, अशोक, हर्षवर्धन जैसे बड़े-बड़े सम्राटों ने इस धर्म को अपनाया। यह धर्म लगभग 1500 वर्षों तक भारत का धर्म रहा। मगर 900-1000 ईसा पश्चात् तक आते-आते बौद्ध धर्म बाहरी दुनिया में फला-फूला मगर भारत में मिट गया। यह एक प्रख्यात ऐतिहासिक रहस्य है जिससे कई विद्वान् समय-समय पर जूझते रहे हैं। एक ऐसे विद्वान् हुए हैं-दामोदर धर्मानंद कोसांबी, जो आधुनिक भारत में इतिहास शास्त्र के जनक माने जाते हैं।

नालंदा के संबंध में कोसांबी के विचार

इतिहासकार दामोदर धर्मानंद कोसांबी ने लिखा है कि नालंदा का अभ्युदय नाग-पूजा स्थलों से हुआ है। कभी-कभी विशेष अवसरों पर भिक्षुओं से भोजन प्राप्त करने के लिए आदिम नाग दयालु सर्प के रूप में प्रकट होता था। बौद्ध कथाओं में भी सर्पनाग के बारे में जानकारी मिलती है। बुद्ध ने आदिवासी नागों को अपने धर्म में दीक्षित किया था, विषैले सर्प को अधिकार में किया था।

मुचलिंद नामक दैवी नाग ने प्रकृति के प्रकोप से उसकी रक्षा की थी, और वह अपने पूर्वजन्म में एक उभयरूप साहिवक नाग भी था। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि नालंदा का बौद्ध केन्द्र के रूप में विकास धीरे–धीरे तथा नाग कबीले के लोगों के व्यापक धर्मांतरण के कारण हुआ था। कृषि के व्यापक प्रसार के फलस्वरूप नाग जैसी आदिम कबीलाई जातियां समय के परिवर्तन से अपने को बचा नहीं सकीं।

निधन

भारत के इस महान् प्रतिभा सम्पन्न प्रसिद्ध वैज्ञानिक, भाषा विज्ञानी और गणितज्ञ दामोदर धर्मानंद कोसांबी का निधन 29 जून, 1966 को हुआ।

❒❒❒